कृष्णभावनामृत

एक अनुपम उपहार

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक ग्रंथरत्न :

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
श्रीमद्भागवतम् (१८ भागों में)
श्रीचैतन्य-चरितामृत (९ भागों में)
लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण
भक्तिरसामृतसिन्धु
भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत
श्रीउपदेशामृत
श्रीईशोपनिषद्
अन्य ग्रहों की सुगम यात्रा
भागवत का प्रकाश
आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान
कृष्णभावनामृत : सर्वोत्तम योगपद्धति
पूर्ण प्रश्न पूर्ण उत्तर
देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत
महारानी कुन्ती की शिक्षाएँ
राजविद्या - ज्ञान का राजा
जीवन का स्रोत जीवन
जन्म-मृत्यु से परे
कर्मयोग
रसराज श्रीकृष्ण
प्रह्लाद महाराज के दिव्य उपदेश
कृष्ण की ओर
कृष्णभावनामृत की प्राप्ति
कृष्णभावनामृत - एक अनुपम उपहार
पुनरागमन - पुनर्जन्म का विज्ञान
योगपथ - आधुनिक युग के लिए योग
योग की पूर्णता
नारद भक्ति-सूत्र
मुकुन्दमाला स्तोत्र
गीतासार
मृत्यु की पराजय
आत्मा का प्रवास
प्रकृति के नियम
ज्ञान की तलवार
अध्यात्म और २१ वीं सदी
हरे कृष्ण चुनौती
गीतार गान (बांग्ला)
भगवद्दर्शन पत्रिका (संस्थापक)

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखें :
भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, हरे कृष्ण धाम, जुहू, मुंबई ४०० ०४९.
ये पुस्तकें हरे कृष्ण केन्द्रों पर भी उपलब्ध हैं। कृपया अपने निकटस्थ केन्द्र से सम्पर्क करें।

॥ श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

कृष्णभावनामृत

एक अनुपम उपहार

कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

१

श्रीकृष्ण के माध्यम से आध्यात्मिक ज्ञान

इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लक्ष्य समस्त जीवों को उनकी मूल चेतना तक वापस लाना है। भौतिक जगत् में सारे जीव विभिन्न मात्राओं में एक प्रकार की प्रमत्तता से पीड़ित हैं। इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लक्ष्य मनुष्य को भौतिक रोग से मुक्त करना तथा उसकी मूल चेतना को पुन:स्थापित करना है। एक बंगला कविता में एक महान् वैष्णव कवि ने लिखा है, "जब कोई मनुष्य भूत-प्रेत से ग्रस्त हो जाता है, तो वह केवल अंट-शंट ही बक सकता है। इसी प्रकार, कोई भी मनुष्य जो भौतिक प्रकृति के प्रभाव में है, उसे भूत-प्रेत से ग्रस्त ही मानना चाहिए और वह जो कुछ बोलता है उसे बकवास ही समझना चाहिए।" भले ही किसी को कितना ही बड़ा दार्शनिक या विज्ञानी क्यों न माना जाता हो, किन्तु यदि वह माया के भूत से ग्रस्त है, तो वह जो भी सिद्धान्त प्रस्तुत करता है तथा जो भी बोलता है, वह न्यूनाधिक निरर्थक होता है। अभी हमें उस मनश्चिकित्सक का उदाहरण दिया जाता है, जिसने हत्यारे की जाँच के लिए अनुरोध किये जाने पर घोषणा की कि वह जितने भी रोगियों के सम्पर्क में आया था, वे सभी न्यूनाधिक सनकी थे। अतएव न्यायालय चाहे तो हत्यारे को इस तर्क के आधार पर क्षमा कर सकता

enlightened

है। बात यह है कि भौतिक जगत् में एक भी प्रबुद्ध जीव ढूँढ़ पाना कठिन है। इस जगत् में अभी विक्षिप्तता का जो वातावरण बना हुआ है, उसका कारण भौतिक चेतना का संदूषण है।

इस 'हरे कृष्ण' आन्दोलन का उद्देश्य मनुष्य को उसकी मूल चेतना में वापस लाना है, जो कृष्णभावनामृत या निर्मल चेतना है। जब बादलों से जल बरसता है, तो यह आसुत जल की तरह प्रदूषणरहित होता है, किन्तु भूमि का स्पर्श करते ही वह गंदा तथा बदरंग हो जाता है। इसी प्रकार हम मूलत: शुद्ध आत्मा हैं, श्रीकृष्ण के अंश हैं। अतएव हमारी मूल वैधानिक स्थिति ईश्वर के ही समान शुद्ध है। *श्रीमद्भगवद्गीता* (१५.७) में श्रीकृष्ण कहते हैं :

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।
मन:षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

"इस बद्ध जगत् में सारे जीव मेरे अंश हैं और वे शाश्वत हैं। लेकिन बद्ध जीवन होने से वे मन समेत छहों इन्द्रियों से अत्यन्त कठोर संघर्ष कर रहे हैं।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* १५.७)

इस प्रकार सारे जीव श्रीकृष्ण के अंशरूप हैं। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जब हम श्रीकृष्ण की बात करते हैं, तो हम *भगवान्* की बात करते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण शब्द सर्वाकर्षक पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के व्यक्तित्व का निर्देश करता है। जिस प्रकार सोने का एक कण गुण की दृष्टि से सोने की खान के ही समान होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के शरीर के सूक्ष्म अंश भी गुणात्मक रूप में श्रीकृष्ण के ही समान हैं। *भगवान्* के शरीर तथा जीव के शाश्वत आध्यात्मिक शरीर की रासायनिक संरचना एक सी ही है—जो दिव्य है। इस तरह प्रारम्भ में जब हम अदूषित अवस्था में थे, तो हमारा स्वरूप वैसा ही था जैसा भगवान् का है, किन्तु

जिस प्रकार वर्षा का जल भूमि पर गिरता है, उसी तरह हम इस भौतिक जगत् के सम्पर्क में आये, जिसका संचालन श्रीकृष्ण की भौतिक बहिरंगी शक्ति से होता है।

जब हम बहिरंगी शक्ति या भौतिक प्रकृति की बात करते हैं, तो यह प्रश्न किया जा सकता है, "किसकी शक्ति ? किसकी प्रकृति ?" भौतिक शक्ति या प्रकृति स्वतंत्र रूप से कार्यशील नहीं है। ऐसी धारणा तो निपट मूर्खता है। श्रीमद्भगवद्गीता में यह स्पष्ट कहा गया है कि भौतिक प्रकृति स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करती। जब एक मूर्ख किसी यन्त्र को देखता है, तो वह सोच सकता है कि यह स्वत: चल रहा है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता; उसका एक चालक होता है जो उसे वश में रखता है, भले ही हम अपनी दोषपूर्ण दृष्टि के कारण उस नियन्ता (चालक) को यन्त्र के पीछे न देख पाएँ। ऐसे अनेक इलेक्ट्रॉनिक यन्त्र हैं, जो आश्चर्यजनक ढंग से कार्य करते हैं, लेकिन इस जटिल व्यवस्थापना के पीछे एक विज्ञानी रहता है जो बटन दबाता है। इसे समझना अत्यन्त सरल है, चूँकि यन्त्र भौतिक पदार्थ का बना है। अतएव यह स्वेच्छा से कार्य नहीं कर सकता, लेकिन उसे आत्मा के निर्देशन के अंतर्गत कार्य करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, एक टेप रिकॉर्डर कार्य करता तो है, लेकिन यह एक जीव या मनुष्य की योजना के अनुसार और उसके निर्देशन में कार्य करता है। यन्त्र पूर्ण होता है, लेकिन जब तक वह चेतन जीव द्वारा संचालित नहीं होता, तब तक वह कार्य नहीं कर सकता। इसी प्रकार हमें यह समझना चाहिए कि यह दृश्य ब्रह्माण्ड, जिसे हम प्रकृति कहते हैं, एक विशाल यन्त्र है और इस यन्त्र के पीछे भगवान् या श्रीकृष्ण रहते हैं। इसकी पुष्टि श्रीमद्भगवद्गीता (९.१०) से भी होती है, जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं :

मयाध्यक्षेण प्रकृति: सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है और सारे चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है। इसी नियम के अंतर्गत इस जगत् का सृजन और संहार पुनः पुनः होता रहता है।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* ९.१०)

प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर (यथा मनुष्य, पशु तथा कीट) तथा अचर (यथा वृक्ष तथा पर्वत)। श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन दोनों प्रकार के जीव को नियंत्रित करनेवाली भौतिक प्रकृति उनकी अध्यक्षता में कार्य करती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के पीछे एक परम नियन्ता होता है। आधुनिक सभ्यता ज्ञान के अभाव के कारण इसे नहीं समझ पाती। अतएव इस कृष्णभावनामृत संघ का यह उद्देश्य है कि वह ऐसे सारे लोगों को प्रबुद्ध करे, जो प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव से प्रमत्त हो उठे हैं। दूसरे शब्दों में, हमारा लक्ष्य मानवजाति को उसकी सहज स्थिति के प्रति जागृत करना है।

यद्यपि विश्वविद्यालय अनेक हैं, विशेषतया संयुक्त राज्य अमेरिका में और ज्ञान के विभाग भी अनेक हैं, लेकिन वे इन बिन्दुओं पर विचार नहीं करते। *श्रीमद्भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण ने जो ज्ञान दिया है उस ज्ञान को सिखानेवाला विभाग कहाँ है? जब मैंने 'मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी' के छात्रों एवं कतिपय संकाय सदस्यों के समक्ष बोला तो उनसे मेरा पहला प्रश्न था, "कहाँ है वह टेक्नोलॉजी विभाग, जो एक मृत तथा जीवित मनुष्य में अन्तर की खोज कर रहा है?" जब कोई मनुष्य मरता है, तो कुछ चला जाता है; कहाँ है वह टेक्नोलॉजी जो उसे वापस ला दे? आखिर विज्ञानी इस समस्या को हल करने का प्रयास क्यों नहीं करते? चूँकि यह अत्यन्त गूढ़ विषय है। अतएव वे इसे एक ओर रख देते हैं और खाने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने की टेक्नोलॉजी में व्यस्त हो जाते हैं। लेकिन वैदिक ग्रन्थ हमें बताते हैं कि यह तो पशु-

टेक्नोलॉजी है। पशु भी अच्छी तरह खाने, सुखी यौन-जीवन बिताने, शांतिपूर्वक सोने तथा आत्मरक्षा करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। तो फिर मनुष्य के ज्ञान और पशु के ज्ञान में अन्तर ही क्या रहा? तथ्य तो यह है कि मनुष्य के ज्ञान का विकास एक जीवित तथा मृत मनुष्य, एक जीवित शरीर तथा एक मृत शरीर का अन्तर खोज निकालने के लिए किया जाना चाहिए। यह आध्यात्मिक ज्ञान *श्रीमद्भगवद्गीता* के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया था। श्रीकृष्ण का मित्र होने के कारण अर्जुन अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्य था, लेकिन उसका ज्ञान अन्य मनुष्यों की भाँति सीमित था। श्रीकृष्ण ने जिन विषयों का उपदेश दिया, वे अर्जुन के सीमित ज्ञान से परे थे। ये विषय *अधोक्षज* कहलाते हैं, क्योंकि हमारी प्रत्यक्ष अनुभूति, जिससे हम भौतिक ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन तक पहुँच नहीं पाती। उदाहरणार्थ, हमारे पास ऐसे कई सूक्ष्मदर्शी यन्त्र हैं जिनसे हम उन वस्तुओं को देख सकते हैं जिन्हें हम अपनी सीमित दृष्टि से नहीं देख पाते, लेकिन ऐसा कोई भी सूक्ष्मदर्शी यन्त्र नहीं है जो हमें शरीर के भीतर आत्मा को दिखला सके। तथापि आत्मा का अस्तित्व तो है ही।

श्रीमद्भगवद्गीता हमें सूचना देती है कि इस शरीर में एक स्वामी है। मैं अपने शरीर का स्वामी हूँ और अन्य लोग अपने-अपने शरीरों के स्वामी हैं। मैं कहता हूँ, "मेरा हाथ" किन्तु मैं यह नहीं कहता कि "मैं हाथ।" चूँकि यह "मेरा हाथ" है। अतएव मैं हाथ से भिन्न हूँ—मैं उसका स्वामी हूँ। इसी प्रकार हम कहते हैं, "मेरी आँख," "मेरा पाँव," "मेरा यह," "मेरा वह" आदि-आदि। इन सारी वस्तुओं में, जो मेरी हैं, मैं कहाँ हूँ? इस प्रश्न के उत्तर की खोज ध्यान की प्रक्रिया में निहित है। वास्तविक ध्यान में हम पूछते हैं, "मैं कहाँ हूँ? मैं क्या हूँ?" हम इन प्रश्नों के उत्तर किसी भौतिक प्रयास से नहीं पा सकते और इसलिए सारे विश्वविद्यालय इन प्रश्नों को ताक पर रख रहे हैं। उनका कहना है, "यह अत्यधिक

कठिन विषय है।" या तो वे यह कहकर उसे टाल देते हैं, "यह तो असंगत है।" इस तरह सारे इंजीनियर अपना ध्यान घोड़ारहित गाड़ी तथा पंखरहित पक्षी की सृष्टि करने में या उसे पूर्ण करने के प्रयास में लगा रहे हैं। पहले गाड़ियाँ घोड़े खींचते थे और कोई वायु प्रदूषण न था, लेकिन अब तो कारें हैं और रॉकेट हैं। सारे विज्ञानियों को इन पर बहुत गर्व है। वे शेखी बघारते हैं, "हमने घोड़ारहित गाड़ियों तथा पंखरहित पक्षियों का आविष्कार कर लिया है।" भले ही वे वायुयान तथा रॉकेट के लिए नकली पंख खोज लें, लेकिन वे आत्मारहित शरीर की खोज नहीं कर सकते। जब वे ऐसा करने में समर्थ होंगे, तो सचमुच वे प्रशंसा के पात्र बनेंगे। लेकिन ऐसा प्रयास निश्चित रूप से विफल रहेगा, क्योंकि हम जानते हैं कि ऐसी कोई मशीन नहीं होती, जो आत्मा की सहायता के बिना अपने आप कार्य कर सके। यहाँ तक कि सर्वाधिक जटिल संगणकों (कम्प्यूटरों) को चलाने के लिए भी प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार हमें यह जान लेना होगा कि यह विराट् जगत् रूपी विशाल यन्त्र परम आत्मा द्वारा संचालित होता है। यह परम आत्मा श्रीकृष्ण हैं। विज्ञानीजन इस भौतिक ब्रह्माण्ड के परम कारण या परम नियन्ता की खोज में लगे हैं और अनेक सिद्धान्त तथा प्रस्ताव प्रस्तुत करते रहते हैं, किन्तु ज्ञान संपादन करने का असली साधन अत्यन्त सरल एवं पूर्ण है—हमें केवल पूर्ण पुरुष श्रीकृष्ण से सुनना भर है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में जो ज्ञान निहित है उसे स्वीकार करके कोई भी यह तत्क्षण समझ सकता है कि यह विराट् ब्रह्माण्ड रूपी यन्त्र, जिसका पृथ्वी एक अंश मात्र है, इतने आश्चर्यमय ढंग से इसीलिए कार्य कर रहा है, क्योंकि इसके पीछे एक चालक हैं—श्रीकृष्ण।

ज्ञान की हमारी विधि अत्यन्त सुगम है। श्रीकृष्ण के उपदेश—*श्रीमद्भगवद्गीता*—वह ज्ञान की प्रधान कृति है, जो स्वयं आदिपुरुष, सर्वोपरि

आद्य व्यक्ति, पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर द्वारा प्रदान की गई है। वे निःसंदेह परिपूर्ण व्यक्तित्व हैं। यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि हमने उन्हें पूर्ण पुरुष के रूप में स्वीकार कर लिया है, किन्तु ऐसे अन्य लोग भी हैं, जिन्होंने उनका इस तरह स्वीकार नहीं किया है। लेकिन किसी को यह भी नहीं सोचना चाहिए कि हमारी यह स्वीकृति मनमानी सनक है। उन्हें अनेक प्रमाणों के आधार पर ही पूर्ण पुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। हम केवल अपनी सनकों या भावनाओं के आधार पर श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुष के रूप में स्वीकार नहीं करते। नहीं—श्रीकृष्ण को समस्त वैदिक ग्रन्थों के प्रणेता व्यासदेव जैसे वैदिक अधिकारियों ने *भगवान्* के रूप में स्वीकार किया है। ज्ञान का आगार वेदों में निहित है और उनके प्रणेता व्यासदेव श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं। यही नहीं, व्यासदेव के गुरु नारद भी श्रीकृष्ण को इसी तरह मानते हैं। नारद के गुरु ब्रह्मा श्रीकृष्ण को न केवल परम पुरुष मानते हैं, अपितु परम नियन्ता भी मानते हैं—*ईश्वरः परमः कृष्णः*—परम नियन्ता तो श्रीकृष्ण हैं।

इस सृष्टि में कोई ऐसा नहीं है, जो यह दावा कर सके कि वह किसी के नियंत्रण में नहीं है। कोई कितना ही महत्त्वपूर्ण या शक्तिशाली क्यों न हो, प्रत्येक व्यक्ति के सिर पर एक नियन्ता रहता है। किन्तु श्रीकृष्ण का कोई नियन्ता नहीं है। अतएव वे *भगवान्* हैं। वे सबके नियन्ता हैं, लेकिन उनसे श्रेष्ठ कोई नहीं है, उन पर नियंत्रण करनेवाला कोई नहीं है, न ही कोई उनके तुल्य है। उनको परम नियन्ता के पद में हिस्सा बँटानेवाला भी कोई नहीं है। यह सुनने में शायद अत्यन्त विचित्र लग सकता है, क्योंकि आजकल अनेक तथाकथित भगवान् देखने को मिलते हैं। निःसंदेह, ऐसे *भगवान्* अत्यन्त सस्ते बन गए हैं और उनका आयात विशेषतया भारत से हो रहा है। अन्य देशों के लोग भाग्यशाली हैं, क्योंकि वहाँ भगवान् का निर्माण नहीं होता, लेकिन भारत में तो आए

दिन भगवान् का निर्माण होता रहता है। हम बहुधा सुनते हैं कि लॉस ऐंजिलिस या न्यूयार्क में भगवान् का आगमन हो रहा है और लोग उनके स्वागत के लिए एकत्र हो रहे हैं। लेकिन श्रीकृष्ण इस तरह के भगवान् नहीं हैं, जिनका निर्माण किसी यौगिक फैक्ट्री में होता हो। वे बनाये हुए भगवान् नहीं हैं, अपितु वे पहले से ही *भगवान्* हैं।

अत: हमें प्रमाण के आधार पर यह जान लेना चाहिए कि इस विराट् भौतिक प्रकृति या दृश्य जगत् के पीछे *भगवान्*—श्रीकृष्ण—हैं और उन्हें सारे वैदिक प्रमाणों ने स्वीकार किया है। प्रमाण को मानना हमारे लिए नयी बात नहीं है; हर व्यक्ति किसी न किसी रूप में प्रमाण को मानता है। शिक्षा के लिए हमें किसी अध्यापक के पास या पाठशाला जाना होता है या फिर हम अपने माता-पिता से सीखते हैं। ये सब अधिकारी हैं और हमारी प्रकृति इनसे सीखने की है। अपने बचपन में हम पूछते थे, "पिताजी, यह क्या है ?" और पिताजी कहते, "यह कलम है, यह चश्मा है या यह मेज है।" इस प्रकार एक बालक अपने जीवन के प्रारम्भ से ही अपने माता-पिता से सीखता है। वह अपने माता-पिता से पूछ-पूछकर वस्तुओं के नाम तथा विभिन्न वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों को सीखता है। अच्छे माता-पिता कभी भी अपने बच्चों द्वारा पूछे जाने पर उन्हें धोखा नहीं देते; वे सही-सही सूचना देते हैं। इसी प्रकार यदि हम किसी अधिकारी से आध्यात्मिक सूचना प्राप्त करें और यदि वह अधिकारी धोखेबाज न हो, तो हमारा ज्ञान पूर्ण होता है। किन्तु यदि हम अपनी चिन्तन शक्ति से निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करेंगे, तो हम त्रुटि कर बैठेंगे। निगमन की विधि कभी भी पूर्ण नहीं होती, जिससे विशेष तथ्यों या व्यक्तिगत उदाहरणों के तर्क द्वारा सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। चूँकि हम सीमित हैं और हमारा अनुभव सीमित है। अतएव यह सदा अपूर्ण रहेगा।

यदि हम परिपूर्ण स्रोत, श्रीकृष्ण से सूचना ग्रहण करते हैं और यदि हम उस सूचना की पुनरावृत्ति करते हैं, तो फिर हम जो कुछ कहते हैं वह भी उतना ही पूर्ण और प्रामाणिक हो सकता है। परम्परा विधि अथवा शिष्य परम्परा श्रीकृष्ण से या किसी ऐसे अधिकारी से जिसने श्रीकृष्ण को स्वीकार किया है, श्रवण करने तथा उन्होंने जो कहा, उसे ही यथारूप दुहराने की विधि है। *श्रीमद्भगवद्गीता (४.२)* में श्रीकृष्ण इसी ज्ञान की विधि की संस्तुति करते हैं :

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

"यह परम विज्ञान शिष्यों की परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ और राजर्षियों ने इसी विधि से उसे समझा।"

प्राचीन काल में बड़े-बड़े राजर्षियों द्वारा यह ज्ञान आगे बढ़ाया जाता था क्योंकि वे अधिकारी व्यक्ति होते थे। पहले के युगों में ये राजा ऋषि अर्थात् प्रचुर विद्वान् एवं भक्त होते थे और चूँकि वे सामान्य व्यक्ति नहीं होते थे। अतएव उनकी अध्यक्षता में शासन का कार्य सुचारु रूप से चलता था। वैदिक सभ्यता में ऐसे राजाओं के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जिन्होंने भगवद्भक्त के रूप में सिद्धि प्राप्त की थी। उदाहरणार्थ, ध्रुव महाराज *भगवान्* की खोज में वन में गए और कठिन तपस्या करके उन्होंने केवल छह मास में भगवान् को पा लिया। यद्यपि वे पाँच वर्ष के सुकुमार देहवाले राजकुमार थे, लेकिन वे सफल हुए क्योंकि उन्होंने अपने गुरु देवर्षि नारद के आदेशों का पालन किया। जब ध्रुव महाराज वन में थे, तब वे पहले मास में प्रत्येक तीन दिन में एक बार केवल फल तथा शाक खाते थे और हर छठे दिन थोड़ा-सा जल पीते थे। अंत में उन्होंने श्वास भी रोक लिया और छह मास तक केवल एक पाँव पर खड़े रहे। जब उन्होंने आधे वर्ष तक यह कठिन तपस्या कर ली, तो साक्षात् भगवान्

उनके समक्ष प्रकट हुए। हमारे लिए आवश्यक नहीं कि हम भी ऐसी कठोर तपस्या करें, लेकिन यदि हम वैदिक अधिकारी पुरुषों के पदचिह्नों पर चलें, तो हम भी *भगवान्* का साक्षात्कार कर सकते हैं। भगवान् का ऐसा दर्शन जीवन की पूर्णता है।

कृष्णभावना की विधि तपस्या पर आधारित है, लेकिन वह अधिक कठिन नहीं है। उसमें भोजन तथा मैथुन के लिए कुछ प्रतिबन्ध हैं (केवल कृष्ण-प्रसाद ग्रहण किया जाता है और मैथुन विवाहित जीवन तक सीमित है)। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विधि-विधान हैं, जिनसे आध्यात्मिक अनुभूति में सुविधा होती है। आजकल के समय में ध्रुव महाराज का अनुकरण कर पाना सम्भव नहीं है, लेकिन कतिपय मूलभूत वैदिक सिद्धान्तों का पालन करते हुए हम आध्यात्मिक चेतना अर्थात् कृष्णभावनामृत में प्रगति कर सकते हैं। ज्यों-ज्यों हम प्रगति करते हैं, त्यों-त्यों हमारा ज्ञान पूर्ण होता जाता है। ऐसा वैज्ञानिक या दार्शनिक बनने से क्या लाभ यदि हम यह भी न बता सकें कि हमारा अगला जीवन क्या होगा? कृष्णभावनामृत का अनुभूत छात्र सरलता से यह कह सकता है कि उसका अगला जीवन क्या होगा, भगवान् क्या हैं, जीव क्या है और भगवान् के साथ उसका सम्बन्ध क्या है? उसका ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि यह ज्ञान *श्रीमद्भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवतम्* जैसे ज्ञान के पूर्ण ग्रन्थों से प्राप्त हुआ होता है।

तो यही है वह कृष्णभावनामृत की विधि। यह अत्यन्त सरल है और कोई भी मनुष्य उसे अपना सकता है और अपने जीवन को पूर्ण बना सकता है। यदि कोई कहता है, "मैं बिल्कुल पढ़ा-लिखा नहीं हूँ और पुस्तकें नहीं पढ़ सकता," तो भी वह अयोग्य नहीं है। वह तब भी केवल महामन्त्र का उच्चारण करके अपने जीवन को पूर्ण बना सकता है : हरे *कृष्ण* हरे *कृष्ण कृष्ण कृष्ण* हरे हरे। हरे *राम* हरे *राम राम राम* हरे हरे॥ श्रीकृष्ण ने हमें एक जीभ तथा दो कान दिये हैं और हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि श्रीकृष्ण का साक्षात्कार आँखों से नहीं अपितु कानों तथा जीभ से होता है। उनके संदेश को सुनकर हम जीभ को वश में करना सीखते हैं और जब जीभ वश में हो जाती है, तो अन्य इन्द्रियाँ भी वश में हो जाती हैं। समस्त इन्द्रियों में जीभ ही सर्वाधिक चटोरी है और उसको वश में करना कठिन है, लेकिन मात्र 'हरे कृष्ण' के कीर्तन से तथा कृष्ण-प्रसाद का आस्वाद लेने से वह वश में की जा सकती है।

हम इन्द्रिय-अनुभूति द्वारा या केवल तर्कवितर्क द्वारा श्रीकृष्ण को नहीं समझ सकते। यह सम्भव नहीं, क्योंकि श्रीकृष्ण इतने महान् हैं कि वे हमारी इन्द्रियों की अनुभव क्षमता से परे हैं। लेकिन समर्पण (शरणागति) द्वारा उन्हें जाना जा सकता है। अतएव श्रीकृष्ण इस विधि की संस्तुति करते हैं :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"तुम सारे धर्मों को त्याग दो और केवल मेरी शरण में आ जाओ। बदले में मैं समस्त पापकर्मों के फलों से तुम्हारी रक्षा करूँगा। अतएव तुम्हें डरना नहीं चाहिए।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* १८.६६)

दुर्भाग्यवश हमारा रोग यह है कि हम विद्रोही हैं—हम स्वभाववश अधिकारी का प्रतिरोध करते हैं। हम भले ही यह कहते रहें कि हमें किसी अधिकारी की आवश्यकता नहीं है, लेकिन प्रकृति इतनी प्रबल है कि वह हम पर किसी न किसी प्रकार की सत्ता को थोप देती है। हमें प्रकृति की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। उस मनुष्य से अधिक दयनीय कौन होगा जो सत्ता के प्रति उत्तरदायी न होने का दावा करता है, लेकिन इन्द्रियों का अंधाधुंध अनुसरण करता है, फिर वे चाहे जहाँ उसे ले जाएँ? स्वाधीनता का हमारा यह झूठा दावा मात्र एक मूर्खता

है। हम सब किसी सत्ता के अधीन हैं, फिर भी हम कहते हैं कि हमें किसी का नियंत्रण नहीं चाहिए। यही माया कहलाती है। फिर भी हमें थोड़ी स्वतंत्रता प्राप्त है—हम यह चुनाव कर सकते हैं कि हमें अपनी इन्द्रियों की सत्ता के अधीन रहना है कि श्रीकृष्ण की सत्ता के अधीन रहना है, लेकिन सर्वश्रेष्ठ एवं परम सत्ता तो श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि वे हमारे शाश्वत शुभचिन्तक हैं और वे सदैव हमारे लाभ की बात कहते हैं। चूँकि हमें किसी न किसी की सत्ता स्वीकार करनी है, तो फिर क्यों न उन्हीं की सत्ता स्वीकार की जाए? *श्रीमद्भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवतम्* से उनकी महिमाओं का श्रवण करने मात्र से तथा उनके नामों—हरे *कृष्ण*—का कीर्तन करने से ही हम तेजी से अपना जीवन पूर्ण बना सकते हैं।

२

भौतिक दलदल से उद्धार

हमारी चर्चा का विषय अत्यन्त उत्कृष्ट है—*भगवान्* के पवित्र नाम का यशोगान। इसी विषय पर महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी के बीच विचार-विमर्श हुआ था और उन्होंने यह देखा कि एक अत्यन्त पतित तथा सभी प्रकार के पापकर्म करनेवाले ब्राह्मण की रक्षा एकमात्र श्रीकृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करने के कारण हुई। यह कथा *श्रीमदभागवतम्* के छठे स्कन्ध में दी हुई है। *श्रीमद्भागवतम्* व्यासदेव कृत एक महापुराण है और जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन हुआ है और कृष्णभावनामृत के दर्शन की विशद व्याख्या की गई है।

श्रीमद्भागवतम् के पाँचवें स्कन्ध में ब्रह्माण्ड के लोकों का अत्यन्त विशद वर्णन है। इस ब्रह्माण्ड में अधो, मध्य तथा ऊर्ध्व, ये तीन लोक हैं। वस्तुत: न केवल *श्रीमद्भागवतम्*, अपितु सारे धार्मिक ग्रन्थों में नारकीय या अधोलोकों एवं स्वर्ग या उच्च लोकों के वर्णन मिलते हैं। *श्रीमद्भागवतम्* में इन लोकों की सही-सही स्थिति एवं इस ग्रह से उनकी दूरियों का वैसा ही संकेत मिलता है, जैसा कि खगोलज्ञों ने गणना की है कि चन्द्रमा तथा अन्य ग्रह (लोक) पृथ्वी से कितने दूर हैं। इसी प्रकार *श्रीमद्भागवतम्* में अनेक ग्रहों के वर्णन मिलते हैं।

हमें इस ग्रह में भी विभिन्न प्रकार की जलवायुओं का अनुभव होता है। अमेरिका जैसे समशीतोष्ण देशों में भारत जैसे उष्णकटिबन्धी देश से

भिन्न जलवायु पायी जाती है। जिस प्रकार इस ग्रह में पर्यावरणीय अन्तर पाये जाते हैं, उसी प्रकार अन्य ऐसे ग्रह भी हैं जहाँ के वायुमण्डल तथा पर्यावरण काफी भिन्न हैं। शुकदेव गोस्वामी से ऐसे ग्रहों का वर्णन सुनने पर परीक्षित महाराज ने कहा :

अधुनेह महाभाग यथैव नरकान् नरः।
नानोग्रयातनान् नेयात् तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥

"हे महाभाग! मैंने आपसे नरक लोकों के विषय में सुना। जो लोग अत्यन्त पापी होते हैं, वे इन लोकों में भेजे जाते हैं।" (*श्रीमद्भागवतम्* ६.१.६)

परीक्षित महाराज वैष्णव (भक्त) थे और एक वैष्णव सदा अन्यों के कष्ट के प्रति दया का अनुभव करता है। उदाहरणार्थ, जब ईसा मसीह प्रकट हुए थे, तब वे लोगों की दयनीय दशा देखकर अत्यन्त दुःखी हुए। इस प्रकार सारे वैष्णव या भक्तजन, जो भक्त या कृष्णभावनाभावित होते हैं, चाहे वे किसी देश या सम्प्रदाय के हों, अत्यन्त दयालु होते हैं। अतएव वैष्णव की अर्थात् भगवान् की महिमाओं के उपदेशकर्ता की निंदा करना महान् अपराध है।

श्रीकृष्ण शुद्ध वैष्णव के चरणकमलों पर किये गए अपराधों को कभी नहीं सहते। किन्तु एक वैष्णव ऐसे अपराधों को क्षमा करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। *कृपाम्बुधिः*—एक वैष्णव दया का सागर होता है। *वाञ्छा कल्पतरु*—प्रत्येक व्यक्ति कामना करता है, लेकिन वैष्णव इन समस्त कामनाओं को पूरा कर सकता है। कल्पतरु आध्यात्मिक जगत् के वृक्ष का द्योतक है, जो सर्व मनोकामना पूरी करनेवाला वृक्ष होता है। इस जगत् में एक विशेष प्रकार का फल किसी विशेष प्रकार के वृक्ष से ही प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन कृष्णलोक में तथा आध्यात्मिक आकाश में आये हुए अन्य सब ग्रहों में सारे वृक्ष आध्यात्मिक होते हैं

तथा मनोवांछित फल देनेवाले होते हैं। इसका वर्णन *ब्रह्म-संहिता* में मिलता है (*चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-*)। शुद्ध वैष्णव की तुलना ऐसे कल्पवृक्ष से की जाती है क्योंकि वह निष्ठावान शिष्य को अनुपम भेंट—कृष्णभावनामृत—प्रदान कर सकता है।

वैष्णव को *महाभाग* कहकर सम्बोधित किया जाता है, जिसका अर्थ होता है, "भाग्यशाली।" जो मनुष्य वैष्णव बनता है और भगवद्भावनाभावित होता है, उसे परम भाग्यशाली समझा जाता है। इस युग में कृष्णभावनामृत के प्रमुख प्रचारक भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने बताया है कि ब्रह्माण्ड के विविध लोकों में रह रहे सारे जीव विविध योनियों में भ्रमण कर रहे हैं। जीव अपनी इच्छानुसार कहीं भी जा सकता है—स्वर्ग को या नरक को—उसे केवल वहाँ जाने के लिए अपने आपको तैयार करना होता है। स्वर्गलोक अनेक हैं, नरक लोक भी अनेक हैं और जीवों की योनियाँ भी अनेक हैं। पद्म पुराण के अनुसार जीवों की ८४,००,००० योनियाँ हैं और जीव अपने वर्तमान जीवन की प्रवृत्ति के अनुसार इन समस्त योनियों में चक्कर लगाता रहता है और शरीर उत्पन्न करता रहता है। यहाँ पर "जैसा बोओ वैसा काटो" का सिद्धान्त लागू होता है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि भौतिक जगत् में देहान्तर करनेवाले इन असंख्य जीवों में से कोई विरला ही इतना भाग्यशाली होता है कि वह कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर सके। यद्यपि कृष्णभावनामृत सर्वत्र निःशुल्क बँट रहा है, फिर भी हर व्यक्ति इसे ग्रहण नहीं कर पा रहा—इस कलियुग में तो विशेष रूप से। इसी कारण *श्रीमद्भागवतम्* ग्रन्थ कलियुग के लोगों का वर्णन मन्द भाग्य कहकर करता है। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि जो भाग्यशाली हैं, वे ही कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर पाते हैं और इस तरह ज्ञान का सुखद एवं आनन्दमय जीवन प्राप्त करते हैं।

यह वैष्णव का कर्तव्य है : घर-घर जाकर अभागे लोगों को इस सद्भाग्य को स्वीकार करने के लिए समझाने का प्रयत्न करना। वैष्णव सोचता है, "इन लोगों को उनके नारकीय जीवन से किस तरह उबारा जाए?" यही जिज्ञासा महाराज परीक्षित ने भी की थी। उन्होंने पूछा था, "हे महभाग! आपने बताया कि मनुष्य अपने पापकर्मों के कारण नारकीय अवस्था में या नरक लोक में डाल दिया जाता है। अब आप उन विधियों को बताएँ जिनसे ऐसे व्यक्ति को बचाया जा सके?" यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जब कोई वैष्णव आता है, जब स्वयं भगवान् आते हैं या जब भगवान् के पुत्र या विश्वासपात्र भक्तगण आते हैं, तो उनका एकमात्र उद्देश्य पापी लोगों को कष्ट से बचाना होता है। उन्हें इसका ज्ञान रहता है कि ऐसा किस तरह किया जा सकता है। जब प्रह्लाद महाराज को भगवान् नृसिंहदेव के दर्शन हुए, तो उन्होंने कहा :

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्॥

"हे भगवान्! प्रह्लाद महाराज ने कहा, "मैं अपनी मुक्ति के लिए अधिक चिन्तित नहीं हूँ।" (*श्रीमद्भागवतम्* ७.९.४३) यहाँ पर हम इस मनोवृत्ति के ठीक विपरीत मायावादी दार्शनिकों की मनोवृत्ति का उल्लेख कर सकते हैं, जो इसका बहुत अधिक ध्यान रखते हैं कि उनकी निजी मुक्ति निर्बाध बनी रहे। वे बहुधा सोचते हैं, "यदि मैं प्रचार करने के लिए जाऊंगा और दूसरों की संगति करूंगा, तो हो सकता है कि मैं नीचे गिर जाऊँ और मेरी अनुभूति भी समाप्त हो जाए।" अतएव वे प्रचार करने के लिए आगे नहीं आते। केवल वैष्णवजन ही अपने पतन की परवाह न

करके आगे आते हैं, किन्तु उनका पतन होता नहीं। बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए वैष्णव नरक में भी जाने के लिए तैयार रहता है। प्रह्लाद महाराज का भी यही उद्देश्य था। उन्होंने आगे कहा, "मैं इस भौतिक जगत् में रहने के लिए अधिक उत्सुक नहीं हूँ। मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि मुझे येन-केन-प्रकारेण सदैव कृष्णभावनाभावित रहने की शिक्षा दी गई है।" चूँकि प्रह्लाद कृष्णभावनाभावित थे। अतएव उन्हें विश्वास था कि अगले जन्म में वे श्रीकृष्ण के पास जाएंगे। *श्रीमद्भगवद्गीता* में कहा गया है कि यदि कोई कृष्णभावनामृत के नियामक सिद्धान्तों का सावधानी से पालन करता है, तो वह अगले जीवन में परम लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेगा। प्रह्लाद महाराज आगे कहते हैं, "मुझे केवल एक बात की चिन्ता है। मैं तो उन लोगों के लिए चिन्तित हूँ जो कृष्णभावनाभावित नहीं हैं। मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, लेकिन मैं उनके विषय में सोच रहा हूँ।" और अन्य लोग कृष्णभावनाभावित क्यों नहीं हैं? *मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्*—इन विमूढ़ों ने क्षणिक सुख के लिए माया की सभ्यता बना रखी है।

मायासुखाय—वास्तव में यह तथ्य है हम मायावी सभ्यता बनाने में सफल हुए हैं। प्रतिवर्ष न जाने कितनी मोटरकारें निर्मित की जाती हैं और इस कार्य के लिए न जाने कितनी सड़कें खोदी, बनाई और सुधारी जाती हैं। इससे समस्याएँ ही समस्याएँ खड़ी होती हैं। अतएव यह *माया-सुखाय* अर्थात भ्रामक सुख है। हम सुखी रहने के लिए कोई न कोई रास्ता निकालने का प्रयास करते हैं, लेकिन इससे हम नयी समस्याएँ ही उत्पन्न कर पाते हैं। विश्वभर में अमेरिका में सबसे अधिक कारें हैं, लेकिन इससे समस्याओं का समाधान नहीं होता। हमने कारों का निर्माण इसलिए किया है कि जीवन की समस्याएँ हल करने में सहायता मिले, लेकिन हम अक्सर अनुभव करते हैं कि इससे अन्य समस्याओं का

जन्म होता है। एक बार कार बना लेने पर हमें अपने मित्रों से भेंट करने या डॉक्टर के पास जाने के लिए तीस-चालीस मील की यात्रा करनी पड़ती है। हम न्यूयार्क से बोस्टन हवाईजहाज से १ घंटे से कम समय में पहुँच सकते हैं, लेकिन हवाई अड्डे तक पहुँचने में इससे भी अधिक समय लग जाता है। यह स्थिति *मायासुखाय* कहलाती है। *माया* का अर्थ है मिथ्या, भ्रामक। हम अत्यन्त सुखद परिस्थिति उत्पन्न करना चाहते हैं, लेकिन इससे हम अन्य दुःखद परिस्थिति उत्पन्न करने में ही सफल होते हैं। भौतिक जगत् की यही रीति है। यदि हम परमेश्वर तथा प्रकृति द्वारा प्रदत्त प्राकृतिक सुविधाओं से संतुष्ट नहीं होते और कृत्रिम सुविधा उत्पन्न करना चाहते हैं, तो हमें असुविधाओं को भी उत्पन्न करना होता है। अधिकांश लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ रहकर सोचते हैं कि वे एक अत्यन्त सुखद परिस्थिति उत्पन्न कर रहे हैं, लेकिन वास्तव में उन्हें जीविकोपार्जन के लिए नित्य पचास मील दूर कार्यालय तक जाना और पचास मील लौटना पड़ता है।

ऐसी परिस्थितियों के कारण प्रह्लाद महाराज कहते हैं कि ये *विमूढ़* लोग अर्थात् भौतिकतावादी लोग व्यर्थ ही क्षणिक सुख के लिए अपने को बोझिल बनाये रखते हैं। *विमूढान्, मायासुखाय भरमुद्वहतो।* इसलिए वैदिक सभ्यता में संस्तुति की जाती है कि मनुष्य अपने को भौतिक जीवन से मुक्त करके संन्यास ग्रहण करे और बिना किसी चिन्ता के भक्ति सम्पन्न करे।

लेकिन संन्यास लेना हमेशा आवश्यक नहीं होता। यदि कोई गृहस्थ-जीवन में कृष्णभावनामृत सम्पन्न कर सके, तो उसकी भी संस्तुति की जाती है। यद्यपि श्रील भक्तिविनोद ठाकुर गृहस्थ तथा मैजिस्ट्रेट थे, तो भी उन्होंने उत्तम कोटि की भक्ति सम्पन्न की। ध्रुव महाराज तथा प्रह्लाद महाराज भी गृहस्थ थे, लेकिन उन्होंने अपने आपको इस तरह प्रशिक्षित

किया था कि गृहस्थ होते हुए भी उनकी भक्ति में अवरोध न आए, अतः प्रह्लाद महाराज कहते हैं, "मैंने सदा ही कृष्णभावनामृत में मग्न रहने की कला सीख ली है।" वह कला क्या है? *त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः*— भगवान् के विजयी कार्यकलापों तथा लीलाओं का मात्र महिमागायन। *वीर्य* शब्द का अर्थ है, "अत्यन्त वीरतापूर्ण।" *श्रीमद्भागवतम्* के पढ़ने से हमें समझ में आता है कि श्रीकृष्ण के कार्यकलाप, उनका यश, उनके पार्षद तथा उनसे सम्बन्धित हर वस्तु वीरतापूर्ण है। इसके सम्बन्ध में प्रह्लाद महाराज ने कहा है, "मुझे विश्वास है कि मैं चाहे जहाँ भी जाऊँ, मैं आपके वीरतापूर्ण कार्यकलापों का यशोगान करके बच सकता हूँ। मेरे पतन का कोई प्रश्न नहीं है; मैं तो उन लोगों के लिए ही चिन्तित हूँ जिन्होंने ऐसी सभ्यता सृजित की है, जिसमें वे सदैव कठिन श्रम करने में लगे रहते हैं। मैं उन्हीं के लिए सोच रहा हूँ।" प्रह्लाद महाराज आगे भी कहते हैं :

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥

"हे भगवान्! ऐसे अनेक सन्तपुरुष तथा मुनि हैं, जो अपनी खुद की मुक्ति में विशेष रुचि रखते हैं। वे हिमालय पर्वत जैसे निर्जन स्थानों में रहते हैं, किसी से बोलते नहीं तथा सामान्य शहरी लोगों से मिलने-जुलने से डरते हैं, क्योंकि उससे और उद्विग्न होने का या पतित हो जाने का भय रहता है। वे सोचते हैं, "उससे अच्छा तो यही है कि मैं स्वयं को बचा लूँ।" मुझे इस बात का खेद है कि ये बड़े-बड़े सन्तपुरुष शहरों में नहीं आते, जहाँ लोगों ने निरन्तर कठोर श्रम पर

आधारित सभ्यता का निर्माण कर रखा है। ऐसे साधु अत्यधिक दयालु नहीं हैं, लेकिन मैं उन पतित लोगों के लिए विशेष रूप से चिन्तित हूँ, जो केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यर्थ ही इतना कठिन श्रम कर रहे हैं।" (*श्रीमद्भागवतम्* ७.९.४४)

समझ लो कि ऐसा कठोर श्रम करने में कुछ फायदा है भी, तो भी ये लोग जानते नहीं कि वह क्या है। वे केवल कामेच्छा तथा इस इच्छा की तृप्ति करनेवाले वेश्यालयों को ही जानते हैं। लेकिन प्रह्लाद महाराज के मन में ऐसे लोगों के लिए करुणा है—*नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको*—"हे भगवान्! मुझे अकेले को मोक्ष नहीं चाहिए। जब तक मैं इन सब मूर्खों को अपने साथ न ले लूँ, तब तक मैं नहीं जाऊँगा।" इस प्रकार समस्त पतितात्माओं को अपने साथ लिए बिना उन्होंने भगवान् के धाम जाने से इनकार कर दिया। ऐसा होता है वैष्णव। *नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये*—"मैं केवल उन्हें सिखाना चाहता हूँ कि आपकी शरण में कैसे जाया जाए। बस इतना ही। यही मेरा लक्ष्य है।"

इस प्रकार शरणागति पर बल दिया जाता है, क्योंकि वैष्णव जानता है कि उसके शरण लेते ही मार्ग साफ हो जाएगा :

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः।

"किसी न किसी तरह उन सबको श्रीकृष्ण के चरणों में झुकने दो।" यह अत्यन्त सरल विधि है। मनुष्य को बस इतना ही करना है कि श्रद्धापूर्वक श्रीकृष्ण के समक्ष विनत हो जाए और कहे, "हे भगवान् श्रीकृष्ण! मैं बहुत दीर्घकाल से इतने जन्मों से आपको भूला रहा। अब मुझे आपके बारे में चेतना आई है। कृपया मुझे स्वीकार करें।" बस इतना काफी है। यदि कोई केवल इस विधि को ही सीख ले और निष्ठापूर्वक भगवान् की शरण

ग्रहण कर ले, तो उसका मार्ग तुरन्त खुल जाता है। असली वैष्णव का यही ध्येय होता है।

वैष्णव सदैव सोचता रहता है कि पतित बद्धजीवों को किस तरह उबारा जाए और ऐसा करने के लिए वह सदैव योजनाएँ बनाने में व्यस्त रहता है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रमुख शिष्य गोस्वामीगण ऐसे ही वैष्णव थे, जिनका वर्णन श्रीनिवास आचार्य ने इस प्रकार किया है :

नानाशास्त्र-विचारणैक-निपुणौ सद्धर्म-संस्थापकौ
लोकानां हितकारिणौ त्रिभुवने मान्यौ शरण्याकरौ।
राधाकृष्ण-पदारविन्द-भजनानन्देन मत्तालिकौ
वन्दे रूप-सनातनौ रघुयुगौ श्रीजीव-गोपालकौ॥

"छहों गोस्वामी—श्री सनातन गोस्वामी, श्री रूप गोस्वामी, श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी, श्री रघुनाथ दास गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी तथा श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी—समस्त मानवजाति के कल्याण के लिए सनातन धर्म की स्थापना करने के उद्देश्य से सर्व शास्त्रों का सूक्ष्म अध्ययन करने में अति निपुण हैं। वे सदैव गोपीभाव में निमग्न रहते हैं एवं राधा तथा श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं।"

ऐसी ही वैष्णव-करुणा से परीक्षित महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से कहा, "अभी आपने विभिन्न प्रकार के नारकीय जीवन का वर्णन किया है। अब मुझे बताएँ कि जो लोग कष्ट भोग रहे हैं, उनका उद्धार किस तरह किया जाए? कृपया इसे मुझे समझाएँ" *अधुनेह महाभाग यथैव नरकान् नरः नानोग्रयातनान् नेयात् तन्मे।* इधर *नरः* शब्द मनुष्यों का या जिनका पतन हुआ है, उनका सूचक है। *नरकान् नरः नानोग्रयातनान् नेयात् तन्मे*—"उन्हें उनके घोर कष्टों तथा भयावह पीड़ाओं से किस प्रकार उबारा जा सकता है?" यह है वैष्णव-हृदय की विशेषता। महाराज

परीक्षित ने यह भी कहा, "वे किसी न किसी तरह नारकीय जीवन को प्राप्त हुए हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उसी अवस्था में पड़े रहें। ऐसा कोई न कोई साधन तो होना ही चाहिए जिससे उनका उद्धार हो सके। अतएव कृपा करके उन साधनों को आप मुझसे कहें।"

शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया :

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः
कृतस्य कुर्यान्मनउक्तपाणिभिः।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति
ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः॥

"हाँ, मैं कठिन तथा पीड़ामय जीवन की लाक्षणिक नारकीय दशाओं को पहले ही बता चुका हूँ। बात यह है कि मनुष्य को ऐसे जीवन का प्रतिकार करना चाहिए।" (*श्रीमद्भागवतम्* ६.१.७)

तो यह किस प्रकार किया जाए? पापकर्म किस प्रकार किये जा सकते हैं, उसके कई ढंग हैं। उनमें से एक है, मन से पाप करना। यदि मनुष्य कोई पापकर्म करने का विचार करता है और इस तरह योजना बनाता है, "मुझे उस व्यक्ति को मारना है" तो यह भी पाप माना जाता है। जब मन सोचता है, अनुभव करता है तथा इच्छा करता है, तो वहाँ कर्म होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ भागों में यदि किसी का कुत्ता किसी राह चलते व्यक्ति पर भौंकता है, तो नियम के अनुसार कुत्ते का मालिक उसके लिए जिम्मेदार होता है। यद्यपि कुत्ता केवल भौंकता भर है, लेकिन मालिक उसके लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है। इसके लिए कुत्ता जिम्मेदार नहीं होता क्योंकि वह पशु है, किन्तु चूँकि इस पशु के मालिक ने उसे अपना सर्वोत्तम मित्र बना रखा है। अतएव नियम के अनुसार वही जिम्मेदार है। इसी तरह जैसे कुत्ते का भौंकना अवैध

माना जा सकता है, उसी तरह अपमानजनक वाणी भी पापपूर्ण मानी जा सकती है क्योंकि यह भी भौंकने जैसा है। आशय यह है कि पापकर्म कई तरह से किये जा सकते हैं—कोई उनके विषय में सोच सकता है, कोई पापपूर्ण बोल सकता है या कोई वास्तव में पाप कर सकता है। प्रत्येक दशा में ये पापपूर्ण कृत्य माने जाते हैं। *ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति*—ऐसे कर्मों के लिए मनुष्य को दण्ड भोगना पड़ता है।

लोग अगले जन्म में विश्वास नहीं करते क्योंकि वे व्यर्थ की झंझट तथा दण्ड से बचना चाहते हैं। लेकिन अगले जन्म से बचा नहीं जा सकता। यह सुविदित तथ्य है कि हमें कानून की मर्यादा में रहकर कार्य करना चाहिए, अन्यथा हमें दण्ड मिलेगा। यदि कोई अपराध करता है, तो सरकार उसे दण्डित करेगी। किन्तु कभी-कभी अपराधी सरकार द्वारा दण्डित होने से बच निकलता है, लेकिन ईश्वरीय नियम के बारे में ऐसा नहीं होता। कोई भले ही दूसरों को धोखा दे ले, चोरी करके छिप जाए और इस तरह राज्य के दण्ड से अपने को बचा ले, किन्तु वह अपने आपको श्रेष्ठ नियम या प्रकृति के नियम से नहीं बचा सकता। यह अत्यन्त कठिन है क्योंकि इसके लिए अनेक गवाह होते हैं—दिन का प्रकाश साक्षी है, चाँदनी साक्षी है और श्रीकृष्ण तो सबसे बड़े साक्षी हैं। इस तरह कोई यह नहीं कह सकता, "मैं यह पाप कर रहा हूँ, किन्तु कोई मुझे देख नहीं सकता।" श्रीकृष्ण सबसे बड़े साक्षी हैं क्योंकि वे हृदय में विराजमान हैं। न केवल वे मनुष्य के सोचने तथा करने को देखते हैं, अपितु वे जीव को इसकी सुविधा भी देते हैं। यदि कोई अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए कुछ करना चाहता है, तो श्रीकृष्ण उसे सब सुविधा प्रदान करते हैं। इसका उल्लेख *श्रीमद्भगवद्गीता* में इस प्रकार किया गया है—*सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—"मैं हर एक के हृदय में स्थित हूँ।" *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानम् अपोहनं च*—मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।"

इस प्रकार श्रीकृष्ण हमें अवसर प्रदान करते हैं। यदि हम श्रीकृष्ण को चाहते हैं, तो वे हमें उन्हें प्राप्त करने का अवसर देंगे और यदि हम श्रीकृष्ण को नहीं चाहते, तो वे हमको उन्हें भूल जाने का अवसर देंगे। यदि हम श्रीकृष्ण को, भगवान् को भुलाकर जीवन का आनन्द उठाना चाहते हैं, तो श्रीकृष्ण हमें ऐसी सभी सुविधाएँ प्रदान करेंगे कि हम उन्हें भूल जाएँ, किन्तु यदि हम अपना जीवन कृष्णभावनामृत में बिताना चाहते हैं, तो वे हमें प्रगति करने के लिए अवसर प्रदान करेंगे। यह सब हम पर निर्भर करता है। यदि हम सोचते हैं कि हम कृष्णभावनामृत के बिना सुखी रह सकते हैं, तो श्रीकृष्ण को इसमें कोई आपत्ति नहीं होती। *यथेच्छसि तथा कुरु।* अर्जुन को उपदेश देने के बाद उन्होंने इतना ही कहा, "अब मैं तुम्हें सब कुछ बता चुका हूँ। अब जो चाहो सो करो।" इस पर अर्जुन ने तुरन्त उत्तर दिया—*करिष्ये वचनं तव*—"अब मैं आपके आदेश का पालन करूँगा।" यह है कृष्णभावनामृत।

भगवान् हमारी स्वल्प स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नहीं करते। यदि हम *भगवान्* के आदेशानुसार कर्म करना चाहते हैं, तो वे हमारे सहायक बनेंगे। यदि कोई कभी नीचे गिर भी जाए, किन्तु यदि वह निष्ठावान होगा और सोचेगा कि, "अब से मैं कृष्णभावनाभावित रहकर उनके आदेशों का पालन करूँगा" तो श्रीकृष्ण उसकी सहायता करेंगे। सभी तरह से, चाहे कोई गिर ही क्यों न जाए, उसे क्षमा किया जाएगा और अधिक बुद्धि दी जाएगी। यह बुद्धि कहेगी, "ऐसा मत करो, अब अपना कर्तव्य करो।" किन्तु यदि कोई श्रीकृष्ण को भूलना चाहता है, यदि वह श्रीकृष्ण के बिना ही सुखी रहना चाहता है, तो श्रीकृष्ण उसे अनेक अवसर प्रदान करते रहेंगे जिससे वह उन्हें जन्म-जन्मान्तर भूलता रहे।

परीक्षित महाराज ने कहा, "ऐसा नहीं है कि मैं यदि कह दूँ कि ईश्वर नहीं है तो ईश्वर नहीं होंगे या मैं जो कुछ करता हूँ उसके लिए मैं जिम्मेदार नहीं होऊँगा।" नास्तिक लोग अपने पापकर्मों के कारण ईश्वर के होने से इनकार करते हैं। यदि वे सोचते कि ईश्वर हैं, तो वे दण्ड का विचार आते ही काँप उठते; इसीलिए वे भगवान् के अस्तित्व से इनकार करते हैं। जब खरगोश पर बड़े पशु आक्रमण करते हैं, तो वह अपनी आँखें बन्द करके सोचता है, "अब मैं मारा जानेवाला नहीं।" किन्तु वह मार डाला जाता है। इसी प्रकार हम ईश्वर के अस्तित्व तथा उनके नियमों को भले ही अस्वीकार करें, लेकिन फिर भी ईश्वर तथा उनके नियमों का अस्तित्व होता ही है। उच्च न्यायालय में कोई यह कह सकता है, "मैं सरकार के कानून को नहीं मानता।" लेकिन उसे सरकारी कानून मानने के लिए बाध्य किया जाएगा। यदि कोई राज्य के नियमों को अस्वीकार करता है, तो उसे कारागार में डाल दिया जाएगा और यथेष्ट दण्ड दिया जाएगा। इसी प्रकार मूर्खतावश भले ही मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व से अनेक प्रकार से इनकार करे (जैसे कि ईश्वर नहीं है या मैं ईश्वर हूँ), लेकिन अंततोगत्वा वह अपने अच्छे तथा बुरे समस्त कर्मों के लिए जिम्मेदार होता है।

कर्म के नियम के अनुसार यदि हम उचित ढंग से कर्म करें और पुण्यकर्म करें तो हमें सौभाग्य प्राप्त होता है और यदि हम पापकर्म करते हैं, तो हमें कष्ट उठाना पड़ता है। इसीलिए शुकदेव गोस्वामी कहते हैं :

तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥

"तुम्हें ज्ञात रहना चाहिए कि तुम्हीं उत्तरदायी हो और अपने पापों की गंभीरता के अनुसार तुम्हें शास्त्रों में वर्णित प्रायश्चित्त करना चाहिए।" (*श्रीमद्भागवतम्* ६.१.८)

जिस प्रकार किसी के रोगग्रस्त होने पर डॉक्टर की खोज की जाती है, उसी तरह वैदिक जीवनशैली के अनुसार पापों के प्रायश्चित्त के लिए मनुष्य को एक विशेष वर्ग—ब्राह्मणों के पास जाना चाहिए। प्रायश्चित्त नाना प्रकार के होते हैं। यदि मनुष्य कोई पाप करे और तपस्या द्वारा उसका प्रतिकार कर ले, तो यह प्रायश्चित्त कहलाता है। ईसाइयों की बाइबल में इसके उदाहरण मिलते हैं। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि मनुष्य को अपने पापकर्म की गंभीरता के अनुसार निर्दिष्ट प्रायश्चित्त करना चाहिए। चिकित्सक रोग की गम्भीरता को देखते हुए सस्ती या महंगी दवा का निर्देश दे सकता है। सरदर्द के लिए वह मात्र एस्पिरिन का निर्देश दे सकता है, किन्तु यदि कोई गम्भीर बीमारी हुई तो वह शल्य-चिकित्सा की सलाह भी दे सकता है जिसमें हजारों डॉलर खर्च हो जाएंगे। इसी प्रकार पापकर्म रोगतुल्य हैं। अतएव मनुष्य को निरोग रहने के लिए निर्धारित उपचार करना आवश्यक है।

जन्म-मृत्यु की शृंखला को स्वीकार करने के कारण आत्मा रुग्ण अवस्था का स्वीकार करता है। आत्मा शुद्ध होने के कारण वह जन्म, मृत्यु या रोग का भोग बनने पात्र नहीं है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा का जन्म नहीं होता (*न जायते*) और न इसकी मृत्यु ही होती है (*म्रियते*)।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

"आत्मा का न तो जन्म होता है, न मृत्यु। न ही एक बार अस्तित्व में आकर यह कभी नष्ट होता है। यह अजन्मा, शाश्वत, न मरनेवाला

तथा पुरातन है। शरीर का वध किये जाने पर उसका वध नहीं होता।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* २.२०)

आधुनिक सभ्यता में ऐसी शिक्षा प्रणाली की अत्यन्त आवश्यकता है, जो लोगों को शिक्षा दे कि मृत्यु के बाद क्या होता है। वास्तव में वर्तमान शिक्षा प्रणाली अत्यन्त दोषपूर्ण है, क्योंकि जब तक कोई यह न जान ले कि मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, वह एक पशु की ही भाँति मरता है। पशु यह नहीं जानता है कि उसकी मृत्यु होनी है या कि उसे दूसरा शरीर मिलनेवाला है। लेकिन मनुष्य-जीवन को अधिक समुन्नत होना चाहिए। उसे पशुओं के समान खाने, सोने, रक्षा करने तथा सम्भोग करने मात्र में ही रुचि नहीं लेनी चाहिए। कोई व्यक्ति के पास खाने के लिए काफी मात्रा में खाद्य पदार्थ हो सकते हैं, सोने के लिए अनेक सुन्दर भवन हो सकते हैं, विषयभोग के लिए उत्तम प्रबन्ध हो सकता है या सुरक्षा के लिए अच्छी व्यवस्था हो सकती है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मनुष्य है। जो सभ्यता इन कार्यों पर आधारित हो, उसे पाशविक सभ्यता समझना चाहिए। चूँकि पशु भी इन्हीं कार्यों में रुचि लेते हैं, तो फिर मनुष्य-जीवन और पशु-जीवन में अन्तर ही क्या रहा यदि मनुष्य इनके परे नहीं जाता?

यह अन्तर तभी किया जा सकता है जब मनुष्य जिज्ञासु होकर पूछता है, "मुझे इस दुःखद अवस्था में क्यों रखा गया है? क्या इसका कोई इलाज है? क्या कहीं अविच्छिन्न शाश्वत जीवन होता है? न तो मैं मरना चाहता हूँ, न ही कष्ट भोगना चाहता हूँ। मैं अत्यन्त सुख तथा शांतिपूर्वक जीना चाहता हूँ। क्या ऐसा होने की गुंजाईश है? वह कौन-सी विधि या विज्ञान है जिससे इसे प्राप्त किया जा सकता है?" जब ये प्रश्न पूछे जाते हैं और इनका उत्तर देने के लिए कदम उठाए जाते हैं, तो इससे हमारी मानवी सभ्यता बनती है। यदि ऐसे प्रश्न कभी नहीं

उठाए जाते, तो उस सभ्यता को पाशविक सभ्यता समझा जाना चाहिए। पशु तथा पशुतुल्य आदमी केवल खाने, सोने, सम्भोग करने तथा रक्षा करने में रुचि बनाये रखना चाहते हैं, लेकिन वास्तव में इस प्रक्रिया को टूटने के लिए बाध्य होना पड़ता है। तथ्य तो यह है कि वास्तविक सुरक्षा तो सम्भव ही नहीं, क्योंकि कोई भी मनुष्य क्रूर मृत्यु के हाथों से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, हिरण्यकशिपु अमर होना चाहता था। अतएव उसने कठिन तपस्याएँ कीं, किन्तु अंत में स्वयं भगवान् ने नृसिंहदेव के रूप में आकर अपने नाखूनों से उसे मार डाला। अब तथाकथित वैज्ञानिक यह दावा कर रहे हैं कि निकट भविष्य में वे वैज्ञानिक विधियों से मृत्यु को रोक देंगे, किन्तु यह उनके प्रमत्त प्रलाप का ही एक अन्य उदाहरण है। मृत्यु को रोकना जरा भी सम्भव नहीं है। भले ही हम वैज्ञानिक ज्ञान में कितनी भी प्रगति क्यों न कर लें, लेकिन जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के चार प्रकार के कष्टों का कोई वैज्ञानिक हल नहीं है।

जो मनुष्य बुद्धिमान् है, उसे इन चार मुख्य समस्याओं—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि—को हल करने के लिए उत्सुक रहना चाहिए। कोई मरना नहीं चाहता, किन्तु कोई अन्य चारा भी नहीं। हर एक को मरना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति जनसंख्या की आकाश छूनेवाली वृद्धि को गर्भनिरोधक विधियों के द्वारा रोकने के लिए उत्सुक है, लेकिन तो भी जन्म होते जा रहे हैं। न तो मृत्यु में रोक लगी है, न जन्म में। इसी तरह नयी से नयी औषधियों का आविष्कार हो जाने पर भी न तो व्याधियाँ रोकी जा सकती हैं, न बुढ़ापा।

भले ही मनुष्य यह सोचे कि उसने जीवन की सारी समस्याओं का हल कर लिया है, परन्तु जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि की इन चार समस्याओं का हल कहाँ है? वह हल है, कृष्णभावनामृत। हममें से हर

व्यक्ति प्रतिपल अपना शरीर त्याग रहा है और शरीर त्याग की अन्तिम अवस्था मृत्यु कहलाती है। लेकिन श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं :

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

“हे अर्जुन! जो मनुष्य मेरे जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने के बाद इस भौतिक जगत् में पुनः जन्म नहीं लेता अपितु मेरे शाश्वत धाम को प्राप्त होता है।” (*श्रीमद्भगवद्गीता* ४.९)

ऐसे मनुष्य का क्या होता है? *माम् एति*—वह श्रीकृष्ण के पास वापस लौट जाता है। यदि हमें श्रीकृष्ण के पास वापस जाना है, तो हमें आध्यात्मिक शरीर तैयार करना होगा। यह तैयारी ही कृष्णभावनामृत की विधि है। यदि मनुष्य अपने को कृष्णभावनामृत में रखे, तो वह धीरे-धीरे अपने अगले शरीर अर्थात् आध्यात्मिक शरीर का निर्माण कर लेता है, जो उसे तुरन्त कृष्णलोक या श्रीकृष्ण के धाम तक ले जानेवाला होता है, जहाँ वह शाश्वत आनन्दमय जीवन पाकर सुखी होगा।

३

कृष्ण-प्रेम का अभ्यास

पापकर्मों के कल्मष के अनुपात में ही प्रायश्चित्त करना आवश्यक है। यही शास्त्रों का आदेश है। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि यदि मनुष्य मृत्यु के पूर्व प्रायश्चित्त कर लेता है, तो उसके अगले जन्म में उसका पतन नहीं होगा। यदि वह प्रायश्चित्त नहीं करता, तो वह अपने साथ अपने पापकर्मों के फलों को भी लेता जाएगा और उसे कष्ट भोगना पड़ेगा। कानून के अनुसार, यदि कोई किसी को मार डालता है, तो उसे मृत्युदण्ड की सजा होती है। जीवन के बदले जीवन लेने की विचारधारा नयी नहीं है, अपितु यह मानव जाति के लिए कानून का ग्रन्थ, *मनुसंहिता* में पायी जाती है। उसमें यह कहा गया है कि जब राजा किसी हत्यारे को फाँसी देता है, तो वास्तव में उससे हत्यारा लाभान्वित होता है क्योंकि यदि उसे मारा नहीं जाता है, तो वह अपनी हत्या का फल अपने साथ लेता जाएगा और उसे अनेक प्रकार से कष्ट भोगने पड़ेंगे।

प्रकृति के नियम अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और बड़ी ही अध्यवरनायपूर्ण विधि से लागू किये जाते हैं, चाहे लोग इसे जाने या न जाने। *मनुसंहिता* में 'जीवन के बदले जीवन' का अधिकार दिया गया है और इसका वास्तव में संसार भर में पालन किया जाता है। इसी प्रकार अन्य ऐसे नियम भी हैं, जिनके अनुसार मनुष्य एक चींटी को भी नहीं मार सकता; अगर वह ऐसा करता है, तो उसकी जिम्मेदारी उसे स्वीकार करनी होगी।

हम किसी जीव को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, अत: हमें उसे मारने का अधिकार भी नहीं है। अतएव जो मानव निर्मित नियम मनुष्य की हत्या तथा पशु की हत्या करने में भेदभाव बरतते हैं, वे अपूर्ण हैं। यद्यपि मानव निर्मित नियमों में दोष रहते हैं, किन्तु ईश्वरीय नियमों में कोई दोष नहीं रह सकते। ईश्वरीय नियमों के अनुसार किसी पशु की हत्या किसी मनुष्य की हत्या के ही समान दण्डनीय है। जो लोग इनमें भेदभाव बरतते हैं, वे अपने निजी नियमों को गढ़ रहे हैं। यहाँ तक कि दस आदेशों (बाइबल) में भी विधान है, "तुम हत्या नहीं करोगे। (Thou shall not kill.)" यह पूर्ण नियम है, किन्तु उसमें भेदभाव डालकर तथा अटकलबाजी करके लोग इसे विकृत कर देते हैं। "मैं मनुष्य की हत्या नहीं करूँगा, लेकिन पशु की हत्या करूँगा।" इस प्रकार लोग स्वयं को धोखा देते हैं और अपने तथा अन्यों के लिए कष्ट का कारण बनते हैं। किन्तु ईश्वर के नियम ऐसे आचारण के लिए क्षमा नहीं करते।

हर कोई ईश्वर का प्राणी है, यद्यपि उसका शरीर या वस्त्र भिन्न-भिन्न है। ईश्वर को उन सबका परम पिता माना जाता है। पिता के अनेक पुत्र हो सकते हैं, जिनमें से कुछ बुद्धिमान् हो सकते हैं और कुछ नहीं। लेकिन यदि बुद्धिमान् पुत्र पिता से कहे, "मेरा भाई अधिक बुद्धिमान् नहीं हैं, अत: मुझे उसे मार डालने दें।" तो क्या पिता राजी हो जाएगा? केवल इसलिए कि एक पुत्र अधिक बुद्धिमान् नहीं है और दूसरा पुत्र उसके भार से बचने के लिए उसे मार डालना चाहता है; तो पिता इसके लिए कभी राजी नहीं होगा। इसी प्रकार यदि ईश्वर परम पिता हैं, तो भला वह पशुओं का वध करने के लिए स्वीकृति क्यों देने लगे, क्योंकि वे भी तो उन्हीं की संतानें हैं। *श्रीमद्भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से घोषित करते हैं कि सारी की सारी ८४,००,००० योनियाँ उनकी संतानें हैं और वे कहते हैं कि, "मैं उनका बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ।" जिस

प्रकार सामान्य भौतिक प्रजनन में पिता बीज देता है और माता भ्रूण को आवश्यक रक्त प्रदान करके शरीर का विकास करती है, उसी प्रकार से सारे जीव जो परम पिता के अंश स्वरूप हैं, उनका भगवान् द्वारा भौतिक प्रकृति के गर्भ में गर्भाधान किया जाता है।

आत्मा का आकार-प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म है और शास्त्रों में इसे केशाग्र के तुल्य बताया गया है अर्थात् बाल के अग्र भाग के दस हजारवें भाग के तुल्य। एक अत्यन्त लघु बिन्दु के हजारों भागों की कल्पना कर पाना हमारे लिए कठिन है। दूसरे शब्दों में, वह इतना सूक्ष्म है कि उसे अत्यन्त शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से भी नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार यह आध्यात्मिक स्फुल्लिंग का आकार इतना सूक्ष्म है कि वह भौतिक दृष्टि से अदृश्य रहता है। यह सारी सूचना शास्त्रों में दी हुई है, लेकिन चूँकि हमारे पास उचित दृष्टि नहीं है। अतएव हम देख नहीं सकते। भले ही हमारी भौतिक आँखें आत्मा के आकार को न देख सकें, फिर भी आत्मा शरीर के भीतर है और ज्योंही यह शरीर का त्याग करता है, त्योंही वह अपने कर्मों के अनुसार दूसरा शरीर धारण कर लेता है।

हमें यह सदैव समझना चाहिए कि इन सारे कार्यकलापों के पीछे उच्चतर शक्ति का हाथ है। जीव इस भौतिक जगत् में उसी तरह कार्य करता है जिस तरह एक कर्मचारी कार्यालय में अपना काम करता है और उसके कार्य का लेखा-जोखा (रिकॉर्ड) रखा जाता है। जीव यह नहीं जानता कि उसके वरिष्ठ अधिकारी का क्या अभिमत है, लेकिन फिर भी कार्यालय में उसकी सेवा का लेखा-जोखा तो रखा जाता है और उसके कार्यों के अनुसार उसे पदोन्नति या वेतनवृद्धि दी जाती है या कभी-कभी उसे पद से नीचे गिराया जाता है या यहाँ तक कि उसे पद से निकाल भी दिया जाता है। इसी प्रकार हमारे सारे कार्यों के लिए साक्षी होते हैं। अतएव शास्त्रों में कहा गया है कि सारे जीव श्रेष्ठ अधीक्षण के

अधीन हैं और वे अपने कर्मों के अनुसार पुरस्कृत तथा दण्डित किये जाते हैं। अभी हमें मनुष्य शरीर मिला है, लेकिन हो सकता है अगले जन्म में हमें वह प्राप्त न भी हो और हमें कोई दूसरा शरीर मिले, जो इससे श्रेष्ठ या निम्न हो। हमें किस तरह का शरीर प्राप्त होगा इसका निर्णय जीव से श्रेष्ठ अधिकारी जनों द्वारा लिया जाता है। सामान्यतया जीव को आत्मा द्वारा एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण के विज्ञान का पता नहीं होता।

जीवात्मा इस वर्तमान जीवन की अवधि में भी शरीर के बदलते रहने से देहान्तरण करता रहता है। जब शरीर माता के गर्भ में सर्वप्रथम निर्मित होता है, तो यह एक मटर के दाने के समान अत्यन्त लघु होता है, किन्तु धीरे-धीरे उसमें नौ छिद्रों का विकास होता है—दो आँखें, दो कान, दो नथुने, एक मुँह, जननेन्द्रिय तथा गुदा द्वार। इस प्रकार शरीर विकास करता रहता है और जब तक उसके विकास की आवश्यकता रहती है, तब तक वह माता के गर्भ में रहता है। जब यह पर्याप्त विकसित होकर बाहर आने के योग्य हो जाता है, तो वह बाहर आता है और बढ़ता है। इस वृद्धि का अर्थ है, शरीर का बदलना। यह परिवर्तन समझा नहीं जा सकता क्योंकि वह जीव द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। बचपन में हमारे पास छोटा शरीर था, किन्तु अब उसका अस्तित्व नहीं है। अतएव यह कहा जा सकता है कि हमने अपना शरीर बदल दिया है। इसी प्रकार भौतिक वस्तुओं की प्रकृति के अनुसार जब यह शरीर कार्य करना बन्द कर देता है, तब हमें उसे बदलना पड़ता है। हर भौतिक वस्तु क्षीण होती है और टूटे यन्त्र या पुराने कपड़े के टुकड़े की भाँति यह शरीर भी कुछ समय बाद बेकार हो जाता है।"

यद्यपि वृद्धि की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, लेकिन आधुनिक विश्वविद्यालयों की शिक्षा की प्रणाली, अत्यधिक विकसित मानी जाने पर भी, दुर्भाग्यवश इस विषय की ओर ध्यान नहीं देती। वास्तव

में आध्यात्मिक ज्ञान के बिना कोई शिक्षा शिक्षा नहीं है। औपचारिक शिक्षा के बिना भी मनुष्य रोटी कमाना, खाना, सोना, तथा सम्भोग करना सीख सकता है। पशु शिक्षित नहीं होते—वे टेक्नीशियन नहीं होते और न ही उनके पास कोई विश्वविद्यालय की उपाधि होती है, लेकिन वे भी खाना, सोना, सम्भोग करना तथा रक्षा करना जानते हैं। यदि शिक्षा प्रणाली केवल इन्हीं कार्यों को सिखाती रहे, तो वह अपने को शिक्षा प्रणाली कहलाने की अधिकारिणी नहीं है। असली शिक्षा हमें यह समझने के लिए समर्थ बनाती है कि हम कौन हैं? जब तक मनुष्य आत्मा के सत्य (आत्मतत्त्व) को समझकर अपनी चेतना को विकसित नहीं कर लेता, तब तक उसके सारे कर्म तमोगुण में सम्पन्न होंगे। मानव जीवन भौतिक प्रकृति के नियमों पर विजय पाने के लिए है। वास्तव में हम सभी उस विजय को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं, ताकि हम प्रकृति के संघात को सह सकें। अन्तिम विजय तो जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि को जीतना है, लेकिन हमने इस महत्त्वपूर्ण विषय की उपेक्षा की हुई है।

यदि शिक्षा प्रणाली, ईश्वर ने जो कुछ दिया है उसका सदुपयोग करने की बात सिखाती हो, तो उसमें सुधार हो सकता है। हम जो भी फल तथा अन्न खाते हैं, वह सब ईश्वर प्रदत्त है क्योंकि ईश्वर ही समस्त जीवों को भोजन देते हैं। *श्रीमद्भागवतम्* में कहा गया है—*जीवो जीवस्य जीवनम्*—एक जीव दूसरे जीव का भोजन है (*श्रीमद्भागवतम्* १.१३.४७)। हाथविहीन पशु हमारे जैसे हाथवाले पशुओं के भोजन हैं। पाँव-विहीन पशु चार पाँवों से युक्त पशुओं के भोजन हैं। घास भी एक जीव है, किन्तु उसके पास चलने के लिए पाँव नहीं हैं। अतएव वह गायों तथा अन्य जानवरों द्वारा चर ली जाती है। ऐसे अचर जीव सचर प्राणियों के भोजन हैं और इस तरह यह संसार में शोषित तथा शोषक के मध्य निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। निर्बल जीव सबल जीव द्वारा शोषित

है; यही प्रकृति का नियम है। परम्परानुसार वैष्णवजन या कृष्णभक्त मांस नहीं खाते। यह केवल शाकाहारिता के लिए नहीं है अपितु ईश्वर-चेतना के विकास के लिए है। ईशभावनाभावित होने के लिए मनुष्य को कतिपय विधि-विधानों का पालन करना होता है। नि:संदेह, उसे भोजन तो करना ही पड़ता है, लेकिन हमारा प्रस्ताव यह है कि वह श्रीकृष्ण को अर्पित भोज्य पदार्थों के शेष बचे पदार्थों को खाए। *श्रीमद्भगवद्गीता* का भी यही दर्शन है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं :

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन: ॥

"यदि कोई मनुष्य मुझे प्रेम तथा भक्ति से एक पत्ती, एक फूल, फल या जल अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार कर लेता हूँ।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* ९.२६)

ऐसा नहीं है कि श्रीकृष्ण भूखे हैं और वे हमसे भोजन की भीख मांग रहे हैं। इस तरह अर्पण करने का उद्देश्य प्रेममय आदान-प्रदान स्थापित करना है। श्रीकृष्ण इस आदान-प्रदान को चाहते हैं : "तुम मुझसे प्रेम करो और मैं तुम्हें प्रेम करूँगा।" *भगवान्* के रूप में श्रीकृष्ण की शक्ति प्रत्येक वस्तु का सृजन करती है और उसको धारण करती है, तो फिर वे क्यों हमसे पत्ती, फल तथा थोड़ा-सा जल मांगने लगे? लेकिन यदि हम प्रेमपूर्वक फल का एक टुकड़ा, एक पत्ती तथा जल अर्पित करेंगे और कहेंगे कि, "हे श्रीकृष्ण! मैं इतना निर्धन हूँ कि मैं कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता; मैंने यह फल तथा एक पत्ती प्राप्त की है। कृपया इन्हें स्वीकार करें।" तो वे अत्यधिक प्रसन्न होंगे। यदि इस तरह अर्पण किया जाए, तो श्रीकृष्ण उससे बहुत प्रसन्न होंगे। यदि वे हमारे द्वारा अर्पित वस्तुएँ ग्रहण कर लें, तो हमारा जीवन धन्य हो जाएगा, क्योंकि तब सचमुच ही श्रीकृष्ण

से हमारी मित्रता हो जाएगी। फल, फूल तथा जल ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें कोई भी व्यक्ति, चाहे गरीब हो या अमीर, संसार के किसी भी भाग में सुलभ कर सकता है और अर्पित कर सकता है। तो हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इसमें शाकाहारिता उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है और न ही भगवान् को किसी वस्तु की आवश्यकता है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि हम यह सीखने का प्रयत्न करें कि श्रीकृष्ण से किस तरह प्रेम किया जाए।"

प्रेम तो ऐसे ही आदान-प्रदान से शुरू होता है। हम कोई वस्तु अपने प्रेमपात्र को देते हैं तो वह हमें कुछ देता है और इस तरह प्रेम पनपता है। जब हम किसी लड़के या लड़की से, पुरुष या स्त्री से प्रेममय आदान-प्रदान स्थापित करते हैं, तो हम कुछ लेते देते हैं। इस तरह श्रीकृष्ण हमें आदान-प्रदान करना सिखाते हैं। श्रीकृष्ण हमसे याचना करते हैं, "मुझसे प्रेम करने का प्रयास करो। मुझसे प्रेम करना सीखो। मुझे कुछ अर्पित करो।"

किन्तु हम कह सकते हैं, "श्रीमन्! मेरे पास आपको देने के लिए कुछ भी नहीं है।"

"अरे! क्या तुम एक फल का टुकड़ा, एक फूल, एक पत्ती या थोड़ा-सा जल भी नहीं पा सकते?"

"अरे हाँ! क्यों नहीं? यह तो कोई भी ला सकता है।"

तो यही है कृष्णभावनामृत की विधि जो मनुष्य को श्रीकृष्ण से मैत्री स्थापित कराती है। हम श्रीकृष्ण से कई प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। हम श्रीकृष्ण के सीधे सेवक बन सकते हैं या सर्वोच्च अवस्था में हम श्रीकृष्ण के पिता, माता या प्रियतमा बन सकते हैं। श्रीकृष्ण समस्त जीवों से प्रेममय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार रहते हैं। वास्तव में ऐसा सम्बन्ध पहले से स्थापित है क्योंकि वे परम पिता हैं और हम

उनके अंश हैं। चूँकि पुत्र पिता के शरीर का ही अंश होता है। अतएव उनका सम्बन्ध कभी छिन्न नहीं हो सकता। भले ही कुछ काल के लिए यह विस्मृत हो जाए, लेकिन ज्योंही वह अपने पिता को या पुत्र को पहचान लेता है, त्योंही तुरन्त ही वात्सल्य उमड़ पड़ता है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण से हमारा शाश्वत सम्बन्ध है, लेकिन इस समय यह सम्बन्ध या तो विस्मृत हो गया है या दमित है। फलस्वरूप, हम सोचते हैं कि श्रीकृष्ण से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन यह सत्य नहीं है। चूँकि हम उनसे अभिन्न हैं और उनके अंश हैं, अतः उनके साथ हमारा सम्बन्ध शाश्वत है। इस सम्बन्ध को हमें पुनः जगाना भर है और यह जगाने की प्रक्रिया ही कृष्णभावनामृत की विधि है।

इस समय हम एक भिन्न चेतना के आवेग में बह गए हैं। एक व्यक्ति सोचता है कि वह भारतीय है, दूसरा अपने को अमरीकी सोचता है और अन्य यह सोचता है कि मैं "यह हूँ" या "वह हूँ।" इस प्रकार हम अनेक कृत्रिम पहचानें बना लेते हैं, लेकिन हमारी वास्तविक पहचान यह होनी चाहिए कि "मैं श्रीकृष्ण का हूँ।" जब हम इस प्रकार सोचते हैं, तो हम कृष्णभावनामृत में सोचते हैं। केवल इसी विधि से समस्त जीवों के बीच विश्वप्रेम स्थापित हो सकता है। श्रीकृष्ण सबके साथ नित्य पिता के रूप में सम्बन्धित हैं। अतएव जब हम कृष्णभावनाभावित सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तो हम सबसे सम्बद्ध हो जाते हैं। जब कोई ब्याह करता है, तो वह पत्नी के परिवार से स्वतः सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इसी प्रकार यदि हम श्रीकृष्ण से अपना मूल सम्बन्ध स्थापित कर लें, तो हम अन्य सबसे भी वास्तविक सम्बन्ध स्थापित कर लेंगे। असली विश्वप्रेम की यही आधारशिला है। जब तक हम अपना सम्बन्ध केन्द्र से स्थापित न कर लें, तब तक विश्वप्रेम कृत्रिम होता है और टिकाऊ नहीं रह सकता। यदि किसी का जन्म अमेरिका में हुआ हो, तो वह अमरीकी है और

इस तरह से अन्य अमरीकी भी उसके पारिवारिक सदस्य बन जाते हैं, लेकिन यदि वह कहीं अन्यत्र जन्म लेता है, तो उसका अमरीकियों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सांसारिक धरातल पर सारे सम्बन्ध सापेक्ष होते हैं। लेकिन श्रीकृष्ण के साथ हमारा सम्बन्ध शाश्वत है और वह काल तथा परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता। जब हम श्रीकृष्ण के साथ अपना सम्बन्ध पुनः स्थापित कर लेते हैं, तो विश्व बन्धुत्व, न्याय, शांति तथा सम्पन्नता के प्रश्नों का हल हो जाएगा। श्रीकृष्ण के बिना इन उच्चतर आदर्शों को पूरा कर पाने की सम्भावना नहीं रहती। यदि केन्द्रबिन्दु ही अज्ञात रहे, तो बन्धुत्व तथा शांति कैसे सम्भव हो सकती है?"

श्रीमद्भगवद्गीता में शांति का सूत्र स्पष्ट रूप से दिया हुआ है। हमें यह समझना होगा कि श्रीकृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं। इस प्रकार की भावना किसी कृष्णभावनाभावित मन्दिर में विकसित होती है, जहाँ समस्त कार्यों के केन्द्रबिन्दु श्रीकृष्ण होते हैं। सारी रसोई श्रीकृष्ण के लिए बनती है, किसी के निजी उपयोग के लिए नहीं। अंत में हम प्रसाद (श्रीकृष्ण को अर्पित भोजन) ग्रहण करते हैं, लेकिन जब हम भोजन पका रहे होते हैं, तो हमें यही सोचना चाहिए कि हम अपने लिए नहीं, वरन् श्रीकृष्ण के लिए पका रहे हैं। जब मन्दिर के सदस्य सड़कों पर निकलते हैं, तो वे अपने निजी फायदे के लिए नहीं वरन् कृष्णभावनाभावित पुस्तकें वितरित करने के लिए और इस साहित्य के द्वारा लोगों को श्रीकृष्ण की उपस्थिति से अवगत कराने के लिए निकलते हैं। इस तरह से प्राप्त सारा धन हर प्रकार से श्रीकृष्ण के संदेश का प्रसार करने पर खर्च किया जाता है। जीवन की ऐसी शैली जिसमें हर कार्य श्रीकृष्ण के लिए किया जाता है, जीव में कृष्णभावनामृत के विकास में बढ़ावा देती है। भले ही हमारे कार्यकलाप जैसे के तैसे रह जाएँ, लेकिन हमें केवल यह समझना है कि हम श्रीकृष्ण के लिए कर्म कर रहे हैं, अपनी निजी तुष्टि के लिए नहीं। इस प्रकार

हम अपनी मूल चेतना को पुनः प्राप्त कर सकते हैं और सुखी बन सकते हैं। जब तक कोई अपनी मूल चेतना को प्राप्त नहीं कर लेता, जो कृष्णभावनामृत है, तब तक वह कुछ हद तक सनकी बना रहता है। ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, सनकी समझा जाना चाहिए क्योंकि उसका अस्तित्व ऐसे धरातल पर रहता है, जो निरन्तर बदलनेवाला तथा क्षणिक है। चूँकि हम जीव होने के नाते शाश्वत हैं। अतएव हमें अस्थायी कार्यकलापों की परवाह नहीं करनी चाहिए। हमारे कार्यों को शाश्वत होना चाहिए क्योंकि हम शाश्वत हैं और वह शाश्वत कर्म भगवान् की प्रेममयी सेवा है।

श्रीकृष्ण परम शाश्वत व्यक्ति हैं और हम उनके अधीनस्थ शाश्वत हैं। श्रीकृष्ण सर्वोपरि जीवंत व्यक्ति हैं और हम उनके अधीनस्थ जीव हैं। अंगुली पूरे शरीर की अंश है और उसका शाश्वत कार्य है, शरीर की सेवा करना। निःसंदेह, अंगुली का यही कार्य है और यदि वह पूरे शरीर की सेवा नहीं कर सकती, तो उसे रुग्ण या बेकार समझना चाहिए। इसी प्रकार अंश-रूप हम सबको श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए और उनके अधीनस्थ रहना चाहिए क्योंकि परम पिता के रूप में वे हमारी सारी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। श्रीकृष्ण के अधीन ऐसा जीवन वही सही जीवन है और वही वास्तविक मुक्त जीवन है। जो लोग श्रीकृष्ण का विरोध करने का प्रयास करते हैं और उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहते, वे वास्तव में पापमय जीवन बिताते हैं।

शुकदेव गोस्वामी और परीक्षित महाराज ने इस विषय पर विचार-विमर्श किया और परीक्षित महाराज ने यह जिज्ञासा प्रकट की कि बद्धजीवों को किस प्रकार उनके नारकीय जीवन से बचाया जा सकता है। वैष्णव में पीड़ित मानवता को उबारने की सहज इच्छा होती है। सामान्यतया अन्य लोगों को इसकी परवाह नहीं होती कि लोग दुःख

भोग रहे हैं या नहीं, लेकिन वैष्णव तो भगवद्भक्त होता है, वह सदैव सोचा करता है कि लोगों को पतित अवस्था से किस प्रकार ऊपर उठाया जाए। ईसाइयों का विश्वास है कि ईसा मसीह ने क्रास पर चढ़कर विश्वभर के लोगों के पापकर्मों को आत्मसात कर लिया था। भगवद्भक्त सदैव सोचता रहता है कि अन्यों के कष्टों को किस प्रकार आत्मसात किया जाए। वासुदेव दत्त ऐसे ही भक्त थे, जो भगवान् श्रीचैतन्य के पार्षद थे। उन्होंने भगवान् से कहा, "अब जब आप आए ही हैं, तो कृपा करके इस पृथ्वी के समस्त लोगों का उद्धार कर दें और उन्हें वैकुण्ठ ले चलें और यदि आप सोचते हैं कि पापी होने के कारण उनका उद्धार नहीं हो सकता, तो कृपा करके उन सबके पाप मेरे ऊपर डाल दें। मैं उनके लिए कष्ट भोगूँगा।" यह है एक वैष्णव की करुणा। लेकिन ईसा मसीह या वासुदेव दत्त ने हमारे पापों का ठेका तो ले नहीं रखा कि हम पाप पर पाप किये जाएँ। ऐसा प्रस्ताव अत्यन्त हीन है। वैष्णव या भक्त सारी मानवता के लिए कष्ट भोग सकता है, लेकिन मानव जाति या किसी भक्त के शिष्यों को इस सुविधा का दुरुपयोग करके पाप करते नहीं रहना चाहिए। इसके विपरीत मनुष्य को यह समझना चाहिए कि वह पाप करना बन्द कर दे, क्योंकि ईसा मसीह या वासुदेव दत्त ने उसके लिए कष्ट उठाया था।

वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति अपने पापकर्मों के लिए स्वयं जिम्मेदार है। इसीलिए शुकदेव गोस्वामी संस्तुति करते हैं—*तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ*—पापकर्मों के फल से अपने को मुक्त करने के लिए जब तक मनुष्य देहधारी बना रहता है, उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए। *यतेत मृत्योरविपद्यतात्मना दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित्।* अपने पापकर्मों के अनुसार मनुष्य को प्रायश्चित्त का कार्यक्रम बनाना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विभिन्न

पापकर्मों के लिए भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त होते हैं। कुछ भी हो, मृत्यु के पूर्व उसे प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए, जिससे वह पापकर्मों को अगले जीवन में साथ न ले जाए और उसे फिर से कष्ट भोगना न पड़े। यदि हमारे पापकर्मों के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं किया जाता, तो प्रकृति हमें क्षमा नहीं करेगी। हमें अपने पापों के फल को अगले जीवन में भोगना पड़ेगा। अपने भौतिक कार्यों के प्रति ऐसा बन्धन कर्म-बन्धन कहलाता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

"श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म सम्पन्न होना चाहिए, अन्यथा कर्म मनुष्य को इस भौतिक जगत् से बाँध देता है। अतएव हे कुन्ती पुत्र! तुम भगवान् की तुष्टि के लिए अपने नियत कर्म करो और इस तरह तुम सदैव अनासक्त तथा बन्धनमुक्त रह सकोगे।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* ३.९)

भले ही मनुष्य खाने का आनन्द उठाने के लिए पशु का वध करे, लेकिन वह ऐसे कर्म से बँध जाएगा। इस प्रकार वह अगले जन्म में गाय या बकरी बनेगा और वह गाय या बकरी मनुष्य बनेगी और उसे खाएगी। यह वेदों का कथन है, और अन्य सभी वैदिक कथनों की भाँति, कोई इसे माने या न माने। दुर्भाग्यवश आजकल लोगों को ऐसी शिक्षा मिलती है कि वे अगले जन्म में विश्वास नहीं करते। निःसंदेह, ऐसा लगता है कि मनुष्य जितना ही अधिक 'शिक्षित' होता जाता है, उतना ही वह ईश्वर में, ईश्वर के नियमों में, अगले जीवन में तथा पापकर्मों और पुण्यकर्मों में कम विश्वास करने लग जाता है। इस तरह आधुनिक शिक्षा मनुष्यों को केवल पशु बनाती है। यदि मनुष्य को इस तरह की शिक्षा नहीं दी जाती कि वह क्या है, वह यह शरीर है या नहीं, तो वह निरा गधा ही रहता है। एक गधा भी सोचता है, "मैं यह शरीर हूँ" और दूसरे पशु

भी यही सोचते हैं। अतएव यदि मनुष्य भी इसी तरह सोचे, तो फिर वह किसी अन्य पशु से किस तरह भिन्न है? *श्रीमद्भागवतम्* का कथन है :

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्
जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

"जो मनुष्य इस तीन (घटकों) धातुओं से बने इस शरीर को आत्म (स्व) मानता है, जो अपनी पत्नी तथा बच्चों से घनिष्ठ शारीरिक सम्बन्ध रखने में प्रीति रखता है, जो अपनी भूमि को पूज्य मानता है और तीर्थस्थलों के जल को स्वीकार करता है, लेकिन वहाँ के सन्तपुरुषों के ज्ञान का लाभ नहीं उठाता, उसे मोहग्रस्त मानना चाहिए और वह एक गधे या गाय के समान ही है।" (*श्रीमद्भागवतम्* १०.८४.१३) आयुर्वेद के मतानुसार, यह भौतिक शरीर तीन घटकों (धातुओं) से बना है— *कफ-पित्त-वातैः* अर्थात् कफ, पित्त तथा वायु से बना है। शरीर के भीतर ऐसी जटिल यान्त्रिक रचना है, जो भोजन को रस में परिवर्तित करती है। शरीर में न जाने कितनी जटिल प्रक्रियाएँ होती रहती हैं, लेकिन हम उनके विषय में कितना जानते हैं? हम कहते हैं, "यह मेरा शरीर है" लेकिन हम इस शरीर के बारे में क्या जानते हैं? कुछ लोग तो यहाँ तक दावा करते हैं कि, "मैं भगवान् हूँ" लेकिन वे यह भी नहीं जानते कि उनके अपने शरीरों के भीतर क्या घट रहा है?

यह शरीर मल, मूत्र, रक्त तथा अस्थियों से भरा एक थैला है। यदि कोई यह विश्वास करता है कि मल, मूत्र रक्त तथा अस्थियों से बुद्धि आती है, तो वह मूर्ख है। क्या हम मल, मूत्र रक्त तथा अस्थि को मिलाकर बुद्धि उत्पन्न कर सकते हैं? फिर भी लोग सोचते हैं, "मैं यह शरीर हूँ।" इसलिए शास्त्रों का कहना है कि जो भी इस शरीर को आत्म (मैं) के रूप में स्वीकार करता है और पत्नी, पुत्र तथा परिवार के शारीरिक सम्बन्धों को अपना समझता है, वह मोहग्रस्त है। *कलत्र* शब्द का अर्थ है, पत्नी और *आदि* शब्द का अर्थ प्रारम्भ है। चूँकि पुरुष अपने आपको अकेला अनुभव करता है। अतएव वह पत्नी का स्वीकार करता है और फिर तुरन्त ही बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं, फिर बच्चों के भी बच्चे। इस प्रकार विस्तार होता जाता है। *स्त्री* का अर्थ है "जो विस्तार करती है।" अतएव *कलत्रादिषु* का अर्थ हुआ पत्नी से प्रारम्भ होकर "स्व का विस्तार।" *भौम* शब्द मनुष्य की जन्मभूमि का सूचक है और अज्ञानी लोग उसे पूज्य समझते हैं (*इज्यधीः*)। लोग अपनी जन्मभूमि पर प्राण न्योछावर करने के लिए भी तैयार रहते हैं, लेकिन वे यह नहीं जानते कि भूमि, स्त्री, बच्चे, देश तथा समाज को वास्तव में उनसे कुछ लेना-देना नहीं होता। हम आत्मा हैं (*अहं ब्रह्मास्मि*)। यह ज्ञान की अनुभूति है और जब हम ज्ञान के इस स्तर तक पहुँच जाते हैं, तो हम सुखी हो जाते हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो मनुष्य दिव्य पद पर स्थित है, उसे तुरन्त ही परम ब्रह्म की अनुभूति होती है। वह न तो कभी शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा करता है। वह समस्त जीवों पर समभाव रखता है और इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* १८.५४) जब मनुष्य समझ लेता है कि "मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं यह भौतिक पदार्थ नहीं" तो वह तुरन्त प्रसन्न हो जाता है (*प्रसन्नात्मा*)। इस प्रसन्नता का चिह्न यह है कि अब वह लालसा तथा शोक का अनुभव नहीं करता। इस संसार में सभी लोग खोयी हुई वस्तु के लिए शोक करते है तथा जो उसे अभी

प्राप्त करना बाकी है, उसकी लालसा करते हैं, लेकिन वास्तविक लाभ तो अपने आप को समझना तथा अपने निजी स्वरूप को जान लेना है।

जब तक हम देहात्मबुद्धि बनाये रखते हैं, तब तक हमें भौतिक प्रकृति के नियमों के अधीन रहना पड़ता है और साथ-साथ राज्य के नियमों एवं अन्य नियमों का पालन करना पड़ता है। इस तरह शरीर को बद्ध कहा जाता है, क्योंकि यह विभिन्न प्रतिबन्धों के अधीन रहता है। ये प्रतिबन्ध अनेक प्रकार के होते हैं, लेकिन ये प्रतिबन्ध चाहे जैसे हो, जिम्मेदार तो हम हैं। हमारे इस शरीर में होने के दौरान किये गए पापों का अगर हम प्रायश्चित्त नहीं करते, तो हमें दूसरे जन्म में इनके फलों को भोगना पड़ेगा क्योंकि हमें कर्म के अनुसार दूसरा शरीर प्राप्त होगा। (*यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्*) यही प्रकृति का नियम है। अतएव शुकदेव गोस्वामी संस्तुति करते हैं कि मनुष्य अपने पापकर्मों की गम्भीरता के अनुसार प्रायश्चित्त करे। उसे शास्त्रों में दी गई प्रायश्चित्त विधियों का पालन करना चाहिए, अन्यथा कोई बचाव नहीं है।

चूँकि परीक्षित महाराज अत्यन्त बुद्धिमान् थे, उन्होंने कहा, "प्रायश्चित्त से मनुष्य पापकर्म से मुक्त हो जाता है; मान लो कि किसी व्यक्ति ने हत्या की और फिर उसको भी मार दिया जाता है, तब उसके द्वारा की गई हत्या का पापफल तो शमित हो जाता है, लेकिन इसकी गारंटी नहीं है कि वह अगले जन्म में दूसरे व्यक्ति की हत्या नहीं करेगा।" इस प्रकार परीक्षित महाराज ने विचार किया कि प्रायश्चित्त के बाद लोग पुनः वही पाप करते रहते हैं। यदि कोई मनुष्य को कुछ रोग हुआ है, तो चिकित्सक उसे दवा देकर ठीक कर लेता है, लेकिन इससे इसकी गारंटी नहीं रहती कि वह फिर से उसी रोग से ग्रस्त नहीं होगा। गुप्त रोग अच्छे होने पर भी पुनः पुनः होते रहते हैं; इसी प्रकार चोर बारम्बार जेल में ठूँसे जाने पर भी बार-बार चोरी करता रहता है। ऐसा

क्यों होता है? इसीलिए महाराज परिक्षित ने विचार किया कि यद्यपि पहले किये गए पापों के शमन के लिए तो प्रायश्चित्त ठीक रहता है, लेकिन उससे पापों की इस पुनरावृत्ति को नहीं रोका जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति देख सकता है कि हत्या करनेवाला व्यक्ति दण्डित होता है, लेकिन यह देखने मात्र से ही तो किसी को हत्या करते रोका नहीं जा सकता। प्रत्येक शास्त्र में तथा प्रत्येक विधिग्रन्थ में मनुष्य को आगाह किया गया है कि वह हत्या न करे; फिर भी कोई इन नियमों की परवाह नहीं करता। तो इसका क्या उपचार है? *दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं।* (*श्रीमद्भागवतम्* ६.१.९) व्यावहारिक अनुभव से तथा अधिकारी विद्वानों से सुनकर हर व्यक्ति जानता है कि पापकर्म है क्या? कोई यह नहीं कह सकता कि मैं नहीं जानता कि पाप क्या है? ऐसे प्रायश्चित्त का क्या महत्त्व यदि एक बार प्रायश्चित्त करने के बाद भी वही पाप पुनः पुनः किया जाए? *क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुनः प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत्।* (*श्रीमद्भागवतम्* ६.१.१०) जब कोई दण्डित होता है, तब वह सोचता है, "अरे, मैंने कितनी बड़ी गलती कर दी! अब फिर कभी मैं इस पाप को नहीं करूँगा।" किन्तु ज्योंही वह खतरे से बाहर हुआ नहीं कि पुनः वह वही पाप करता है।

आदत एक प्रकार की दूसरी प्रकृति ही है। इसे छोड़ पाना बहुत कठिन है। *श्वा यदि क्रियते राजा / तत् किं नाश्नात्य उपानहम्* (*हितोपदेश*) / कुत्ते को चाहे सिंहासन पर क्यों न बैठा दिया जाए, लेकिन वह जूते को देखते ही तुरन्त सिंहासन से कूदकर उसके पीछे लग जाएगा, क्योंकि आखिर वह है तो कुत्ता ही। उसमें कुत्ते के गुण हैं और उसे सिंहासन पर बैठाने मात्र से बदला नहीं जा सकता। इसी प्रकार हमने भौतिक प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के संसर्ग में रहकर भौतिक गुण अर्जित किये हैं और हमारी आदतें इन्हीं

तीन गुणों के संसर्ग से बनी हैं। किन्तु यदि हम अपने आपको प्रकृति के इन तीनों गुणों से विलग कर लें, तो हमारा वास्तविक आध्यात्मिक स्वभाव जागृत हो सकता है। यही है कृष्णभावनामृत की विधि। यदि कोई कृष्णभावनाभावित है, तो उसे प्रकृति के तीनों गुणों के संसर्ग में आने का अवसर नहीं मिलता और जब कोई श्रीकृष्ण के प्रति सचेत रहता है, तो उसका आध्यात्मिक स्वभाव स्वत: जागृत होता है। यही रहस्य है। जो लोग कृष्णभावनामृत विधि का गम्भीरतापूर्वक पालन करते हैं, यद्यपि, भले ही वे पहले अनेक अवांछित आदतों के अभ्यस्त रहे हों, ऐसे पद पर टिके रहते हैं जहाँ मात्र कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने से भौतिक कल्मष विद्यमान नहीं रहता।

इस प्रकार कृष्णभावनामृत एक अपूर्व औषधि है। जब तक मनुष्य श्रीकृष्ण के प्रति जागरूकता नहीं लाता, तब तक उसने प्रकृति के तीनों गुणों के संसर्ग में आकर जो आदतें बना ली हैं, वे उसी तरह बनी रहती हैं और वह उन्हें बदल पाने में असमर्थ रहेगा। यदि कोई सचमुच जन्म-मृत्यु के आवागमन से बचना चाहता है, तो उसे कृष्णभक्ति को ग्रहण करना होगा। *श्रीमद्भगवद्गीता* (१४.२६) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूरी तरह से भक्तिमय सेवा में लगा रहता है, जो किसी भी परिस्थिति में नीचे नहीं गिरता, वह तुरन्त ही भौतिक प्रकृति के गुणों को पार करके ब्रह्म के पद को प्राप्त होता है।"

कृष्णभावनामृत की प्रक्रिया किसी प्रकार के प्रायश्चित्त की संस्तुति नहीं करती। कोई कितना ही प्रायश्चित्त करके देख ले, यदि वह प्रेमपूर्वक भक्ति करने तथा अपने जीवन को शुद्ध करने के पद तक ऊपर नहीं उठता, तब उसके आत्मा के रोग बने ही रहेंगे।

४

तपस्या या आत्मनिग्रह का अभ्यास

यदि मनुष्य कृष्णभावनामृत को प्राप्त नहीं करता, तो भले ही वह फिलहाल पापकर्मों के फल से छुटकारा पा ले, किन्तु वह पुन: उल्लंघन करेगा। इसलिए परीक्षित महाराज ने कहा, *क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुन: प्रायश्चित्तमथोऽपार्थं* (*श्रीमद्भागवतम्* ६.१.१०)—"बार-बार पाप करना और फिर प्रायश्चित्त करना, वह मुझे तो केवल समय का अपव्यय ही प्रतीत हो रहा है।" उन्होंने उस हाथी का उदाहरण दिया, जो झील या जलाशय में अपने शरीर को अच्छी तरह साफ करता है, किन्तु ज्योंही वह किनारे पर आता है, त्योंही वह अपने शरीर पर धूल छिड़क लेता है और पुन: गंदा हो जाता है। इसलिए महाराज परीक्षित ने कहा कि भले ही कोई अपने को प्रायश्चित्त की विधि से शुद्ध कर ले, किन्तु यदि वह पुन: वही पापपूर्ण कर्म करता है, तो इससे क्या लाभ होगा? अतएव महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से जो दूसरा प्रश्न पूछा, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है : "भौतिक प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न सारे कल्मष से मनुष्य अंतत: किस प्रकार मुक्त हो सकता है? यदि उसे मुक्ति नहीं मिलती, तो ऐसा प्रायश्चित्त करने से क्या लाभ है?"

इसके उत्तर में शुकदेव गोस्वामी ने कहा कि अन्य कर्मों के द्वारा सकाम कर्मों को शमित मात्र करने से किसी के कष्टों का अंत नहीं हो जाता। उदाहरणार्थ, संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व में शांति स्थापित करने का

प्रयास कर रहा है, लेकिन वह युद्ध को रोक नहीं सकता। युद्ध बारम्बार होता रहता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राजनीतिज्ञों तथा राजनयिकों ने "लीग ऑफ नेशन्स" की स्थापना की। तब द्वितीय विश्वयुद्ध आ धमका और अब उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ गठित किया है, लेकिन युद्ध तो अभी भी होता रहता है। वास्तविक उद्देश्य युद्ध रोकना है, लेकिन वह नहीं हो पा रहा है। एक कार्यवाही से युद्ध प्रारम्भ होता है और दूसरी कार्यवाही से कुछ काल के लिए युद्ध रुक जाता है, लेकिन अवसर मिलते ही फिर एक और युद्ध छिड़ जाता है। पापकर्मों एवं प्रायश्चित्त का चक्र ऐसा ही होता है। वास्तव में हम कष्ट तथा युद्ध से मुक्त होना चाहते हैं, लेकिन ऐसा हो नहीं पाता।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा है कि एक युद्ध उत्पात मचाता है और दूसरा युद्ध कुछ काल के लिए उत्पात को रोकता है, लेकिन यह इस समस्या का अन्तिम हल नहीं। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि ये उत्पात अज्ञान के कारण घटित होते हैं—*अविद्वद् अधिकारित्वात्। अविद्वत्* का अर्थ है ज्ञान का अभाव। *अविद्वद् अधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्।* वास्तविक प्रायश्चित्त ज्ञान में होता है। तो फिर यह लड़ना-भिड़ना क्यों और ये सारे कष्ट क्यों? जब तक ये "क्यों" के प्रश्न मन में नहीं उठते, जिन्हें वेदों में *केन उपनिषद्* कहा गया है, तब तक मनुष्य अपने मनुष्य-जीवन के उचित कर्तव्य की पूर्ति नहीं कर रहा। ये प्रश्न अवश्य उठने चाहिए, "मैं क्यों कष्ट भोग रहा हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मेरी वैधानिक स्थिति क्या है? मृत्यु के पश्चात् मैं कहाँ जाऊँगा? मुझे कष्टप्रद जीवन में क्यों रखा गया है? जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि क्यों हैं?"

इन सब प्रश्नों को किस तरह हल किया जाए? शुकदेव गोस्वामी कहते हैं—*नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि / एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते।* (*श्रीमद्भागवतम्* ६.१.१२) यदि मनुष्य सचमुच

रुग्ण जीवन को रोकना चाहता है, तो उसे नियामक सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपने रोग को अच्छा करने के लिए चिकित्सक द्वारा बताये गए कार्यक्रम के अनुसार नहीं चलता, तो वह अच्छा नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि कोई वैदिक ज्ञान के द्वारा दिये गए परामर्श के अनुसार चिन्तन नहीं करता या बुद्धिपूर्वक कार्य नहीं करता, तो फिर वह जीवन की समस्याओं का अंत किस तरह ला सकता है? केवल प्रायश्चित्त करने से कष्टों का क्षणिक शमन हो सकता है, किन्तु वे पुनः उभरेंगे।

शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि भौतिक या पापमय जीवन में हम इस तरह कर्म करते हैं कि हमें पाप करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप हमें कष्ट भोगना पड़ता है। बात ऐसी ही है और यदि हम कष्ट भोगने तथा दण्डित होते रहने के इस चक्र को समाप्त करना चाहते हैं, तो हमें ज्ञान में प्रगति करनी होगी। सामान्य लोग या *कर्मी* सकाम कर्ता हैं जो थोड़ा भोग्य फल पाने के लिए अहर्निश काम करते रहते हैं और पुनः कष्ट भोगते रहते हैं। इस तरह इन कर्मियों की समस्याएँ कभी हल नहीं हो पाती। इसीलिए सुझाव दिया गया है कि मनुष्य ज्ञान के पद तक ऊपर उठे जैसा कि *श्रीमद्भागवतम्* में संस्तुति की गई है। इसके लिए पहली आवश्यकता है तपस्या का स्वीकार करना। यदि डॉक्टर किसी मधुमेह के रोगी को कुछ दिन उपवास करने की सलाह देता है, तो यह किसी को अच्छा नहीं लगता, किन्तु यदि रोगी स्वस्थ होना चाहता है, तो उसे स्वेच्छा से उपवास करना चाहिए। यह तपस्या है अर्थात् स्वेच्छा से कष्टमय अवस्था की स्वीकृति। ऐसा करने की क्षमता शुभ है और मनुष्य-जीवन का यही उद्देश्य है। निःसंदेह, वैदिक संस्कृति तपस्या का आदेश देती है और भारत में अनेक तपस्वियों को तपस्या करते देखा जा सकता है। जाड़ों में वे गर्दन तक पानी में खड़े रहते हैं और ध्यान करते रहते हैं। शीतऋतु में पानी में खड़े रहना

सुखप्रद नहीं है, लेकिन वे स्वेच्छा से ऐसा करते हैं। ग्रीष्मऋतु में भी वे अपने चारों ओर अग्नि जलाकर लपटों के बीच में बैठे हुए ध्यान करते हैं। ये उस कठोर तपस्या के कतिपय उदाहरण हैं, जिसे भारत के अनेक साधु-यती करते हैं।

कुछ न कुछ तपस्या तो अनिवार्य है। इसके बिना मनुष्य आध्यात्मिक जीवन या ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकता। यदि हम तपस्या की विधि को ग्रहण करके खाने, सोने, सम्भोग करने तथा रक्षा करने की पाशविक प्रवृत्तियों में लगे रहें, तो हमारा मनुष्य-जीवन निरर्थक होगा। यदि कोई व्यक्ति हमारे कृष्णभावनामृत संघ का दीक्षित सदस्य बनना चाहता है, तो सर्वप्रथम हम उसे तपस्या करने के लिए कहते हैं। पाश्चात्य देशों में अवैध मैथुन, नशा, मांसाहार तथा द्यूतक्रीड़ा को छोड़ देना ही सबसे बड़ी तपस्या है। यद्यपि हमें इन्हीं तपस्याओं की आवश्यकता होती है, लेकिन इनका पालन कर पाना भी अत्यन्त कठिन है। इंग्लैंड में एक राजसी धनी व्यक्ति ने एक वैष्णव गुरुभाई से पूछा, "स्वामीजी! क्या आप मुझे ब्राह्मण बना सकते हैं?" स्वामी ने उत्तर दिया, "क्यों नहीं? तुम्हें केवल इन चार सिद्धान्तों का पालन करना होगा—अवैध मैथुन का त्याग, नशे का त्याग, जुआ न खेलना तथा मांसाहार बंद।" उस ब्रिटेनवासी ने उत्तर दिया, "असम्भव।" तो सचमुच, यह असम्भव है क्योंकि इंग्लैंड या अमेरिका में प्रारम्भ से ही भोगासक्ति की लत जीवन की शैली बनी हुई है। बहुधा भारतवासी भद्र पुरुष पश्चिम में इन्हीं लतों को सीखने के लिए आते हैं और इस तरह वे अपने को प्रगतिशील समझते हैं। भारतवासियों को उनकी वैदिक संस्कृति के माध्यम से स्वतः तपस्या का पाठ पढ़ाया जाता है, लेकिन वे उस संस्कृति को भूलकर दूसरी जीवनशैली स्वीकार करने के लिए अमेरिका आते हैं। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यदि कोई मनुष्य

आध्यात्मिक ज्ञान में आगे बढ़ना चाहता है और जीवन की समस्त समस्याओं का निदान चाहता है, तो उसे तपस्या अर्थात् आत्मनिग्रह एवं संयम के इस जीवन को स्वीकार करना होगा।

यह संयम मनुष्यों के लिए है, पशुओं के लिए नहीं। हमें नित्य ही अपने सामान्य व्यवहार में प्रतिबन्धों से पाला पड़ता है। हम कानून भंग किये बिना बायें से कार नहीं चला सकते (अमेरिका में कारें दायीं ओर चलाई जाती हैं) या लाल बत्ती को पार नहीं कर सकते, किन्तु यदि कुत्ता सड़क की बायीं ओर चलता है या लालबत्ती होने पर भी सड़क लाँघ जाता है, तो उसे दण्ड नहीं दिया जाता क्योंकि वह पशु है। अतएव कानून मनुष्यों तथा पशुओं में अन्तर करता है, क्योंकि यह मानी हुई बात है कि मनुष्यों में उन्नत चेतना है। यदि हम विधि-विधानों का पालन न करें, तो पुनः पशुता को प्राप्त करते हैं। स्पष्ट है कि स्वतंत्रता का गुण गा गाकर नियंत्रित जीवन के विरोध में विज्ञापन किया जा रहा है, लेकिन जो मनुष्य वस्तुओं को यथारूप में देखते हैं, वे जान सकते हैं कि समस्त प्रकार के प्रतिबन्धों से स्वतंत्रता का अर्थ पशु-जीवन है। अतएव शुकदेव गोस्वामी तपस्या की संस्तुति करते हैं। यदि हम जीवन की समस्याओं से वास्तविक स्वतंत्रता चाहते हैं, तो हमें *तपस्या* का जीवन अपनाना चाहिए। भौतिक जीवन में बन्धन इसका एकमात्र विकल्प है।

तपस्या क्या है? तपस्या का पहला सिद्धान्त है ब्रह्मचर्य अर्थात् नियंत्रित यौन जीवन। ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ है, काम (मैथुन) का सम्पूर्ण परित्याग। वैदिक संस्कृति के अनुसार जीवन के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य के नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए। तरुण होकर ब्रह्मचारी ब्याह कर सकता है और *गृहस्थ* बनकर मैथुन कर सकता है, लेकिन ब्रह्मचारी की अवस्था में मैथुन सर्वथा वर्जित है। वर्तमान युग में लोग तपस्या के अभाव से पतित हुए हैं क्योंकि उन्हें तपस्वी जीवन

बिताने की शिक्षा नहीं दी जाती। केवल आलोचना से काम नहीं चलने-वाला, मनुष्य को तपस्या का जीवन बिताने के लिए ठीक से प्रशिक्षित होना चाहिए।

वेदों में कहा गया है कि जो लोग तपस्या का नियमित जीवन बिताते हैं, वे ब्राह्मण हैं। *एतदक्षरं गार्ग्य विदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मण: / एतदक्षरं गार्गिविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपण:।* हर व्यक्ति को मरना है क्योंकि यहाँ कोई स्थायी रूप से नहीं रह सकता, लेकिन जो तपस्या का जीवन बिताते हुए मरता है वह ब्राह्मण है और जो कुत्ते-बिल्ली की तरह तपस्या किये बिना मरता है, वह *कृपण* कहलाता है। वैदिक साहित्य में *ब्राह्मण* तथा *कृपण*—ये दो शब्द प्राय: प्रयुक्त होते रहते हैं। *कृपण* का अर्थ हैं "कंजूस" और *ब्राह्मण* का अर्थ है "उदार," सदाशय व्यक्ति। *ब्रह्म जानातिति ब्राह्मण:*—जो मनुष्य परमेश्वर या परम सत्य को जानता है वह *ब्राह्मण* है, लेकिन जो नहीं जानता वह पशु है। पशु तथा मनुष्य में यही अन्तर है। मनुष्य नाम सार्थक करने के लिए मनुष्य को परम सत्य को समझने की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। चूँकि मनुष्य-जीवन ज्ञान प्राप्त करने के लिए है, इसीलिए अनेक स्कूल एवं कॉलेज खोले जाते हैं, अनेक दार्शनिक हैं, वैज्ञानिक हैं, एवं गणितज्ञ हैं। खाने, सोने, मैथुन करने तथा रक्षा करने की शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये तो सहज ही सीखे जाते हैं। मनुष्य-जीवन स्पष्टत: कुछ बड़ी उपलब्धि के लिए है। वह तपस्या तथा ज्ञान के लिए है।

वेदों में ब्रह्मचर्य के अनेक विवरण प्राप्त हैं, जो तपस्या के लिए अर्पित जीवन के शुभारम्भ को बतानेवाले हैं। *स्मरणं कीर्तनं केलि: प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् / सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निर्वृत्तिरेव च* (श्रीधर ६.१.१२)। ठीक से ब्रह्मचर्य पालन के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य

विषयी जीवन के सम्बन्ध में न तो बात करे, न ही सोचे। आधुनिक साहित्य एवं समाचारपत्रों को पढ़ना भी ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि ये सब कामुक सामग्री से भरे रहते हैं। इसी प्रकार किसी भी प्रकार से कामवासना की प्रवृत्ति में लगना, जैसे कि लड़कियों को देखना तथा उनसे बात करना, विषयी जीवन भोगने का निर्णय लेना या उसके लिए प्रयत्नरत होना—ये सभी ब्रह्मचर्य के नियमों के विपरीत हैं। इन समस्त क्रियाओं को बन्द करके ही असली ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है।

तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा मन एवं इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा मनुष्य शुद्ध जीवन में प्रगति कर सकता है। इसी प्रकार योग्य रूप से किये गए दान द्वारा प्रगति की जा सकती है। यह *त्याग* कहलाता है। यदि किसी के पास दस लाख डॉलर है, तो उसे वह अपने पास नहीं रखने चाहिए, वरन् जब तक वे उसकी पहुँच में रहें, उन्हें श्रीकृष्ण के निमित्त व्यय कर देना चाहिए। धन या शक्ति का सदुपयोग तभी होता है, जब वे श्रीकृष्ण की ओर निर्दिष्ट हों।

ज्योंही मनुष्य शरीर त्यागता है, उसके धन के सारे स्रोत तथा अपने शरीर के लिए एकत्र किया उसका सब कुछ उसके साथ ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा दूसरे शरीर में देहान्तर कर जाता है और फिर वह जान नहीं सकता कि अपने पिछले शरीर में कमाया गया धन कहाँ रखा है या अब वह कहाँ खर्च किया जा रहा है। मनुष्य चाहे तो मरते वक्त यह घोषित कर सकता है कि उसके पुत्र या उत्तराधिकारी उसके धन को किस तरह खर्चें, लेकिन यदि वह लाखों डॉलर भी छोड़कर जाए तो अगले जीवन में वह उस पर अपना कोई अधिकार नहीं जता सकता। इसलिए जब तक धन अपने हाथ में है, तब तक उसे उत्तम कार्य के लिए खर्च करना श्रेयस्कर होगा। यदि वह उसे बुरे कार्यों में खर्च करता

है, तो वह बन्धन में फँसता है लेकिन यदि वह उसे उत्तम कार्यों के लिए खर्च करता है, तो बदले में उसे पुण्य मिलता है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है।

श्रीमद्भगवद्गीता बताती है कि दान तीन प्रकार का होता है—सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी। सतोगुणी पुरुष जानता है कि दान कहाँ किया जाए। *श्रीमद्भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं :

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

"न मैं किसी से द्वेष करता हूँ, न किसी के साथ पक्षपात करता हूँ। मैं सब पर समभाव रखता हूँ। किन्तु जो मनुष्य भक्ति से मेरी सेवा करता है, वह मेरा मित्र है, मुझी में स्थित रहता है और मैं भी उसका मित्र होता हूँ।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* ९.२९)

श्रीकृष्ण को धन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे हर वस्तु के मूल स्वामी हैं (*ईशावास्यमिदम् सर्वम्*)। लेकिन तो भी वे हमसे दान मांगते हैं। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण भगवान् वामन के वेश में बलि महाराज से याचना करने गए। यद्यपि वे *सर्वलोकमहेश्वरम्* अर्थात् समस्त लोकों के स्वामी हैं, तो भी वे कहते हैं, "कृपया मुझे दान दो।" सो क्यों? यह हमारे हित के लिए है क्योंकि जितनी ही जल्दी हम श्रीकृष्ण का धन श्रीकृष्ण को लौटा देते हैं, उतने ही उचित ढंग से हम स्थित रहेंगे। निःसंदेह, यह सुनने में शायद सुखद नहीं लगेगा, लेकिन वस्तुतः हम सभी चोर हैं क्योंकि हमने भगवान् की सम्पत्ति चुराई है। यदि किसी के पास कुछ है, लेकिन फिर भी यदि वह भगवद्भावनाभावित नहीं है, तो यह समझना चाहिए कि उसने भगवान् की सम्पत्ति चुराई है। भौतिक जीवन की यही प्रकृति है। यदि इस पर विवेकपूर्वक विचार किया जाए और यदि मनुष्य

असली ज्ञान प्राप्त कर ले, तो उसे अनुभव होगा कि यदि हम *भगवान्* को नहीं समझते जिनकी सम्पत्ति का हम उपयोग कर रहे हैं, तो हमारे पास जो कुछ है, वह चोरी का माल है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि यदि मनुष्य अपने धन को यज्ञ में व्यय नहीं करता, तो वह चोर माना जाता है (*यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः*) उदाहरणार्थ, यदि कोई प्रचुर धन कमाता है, लेकिन वह आयकर से बचने के लिए उसे छुपाने का प्रयास करता है, तो सरकार उसे अपराधी मानती है। वह यह नहीं कह सकता, "यह धन मैंने कमाया है। मैं सरकार को कर क्यों दूँ?" नहीं, उसे या तो कर अदा करना पड़ेगा या दण्ड के लिए तैयार रहना होगा। इसी प्रकार उच्च दृष्टिकोण के अनुसार हमारी हर वस्तु श्रीकृष्ण की या ईश्वर की है और उसका उपयोग उन्हीं की इच्छाओं के अनुसार किया जाना चाहिए। हम कोई इमारत बनाने की इच्छा कर सकते हैं, लेकिन इसके बनाने के लिए पत्थर, लकड़ी तथा मिट्टी कहाँ से आएगी? हम कृत्रिम रूप से लकड़ी पैदा तो कर नहीं सकते, वह भगवान् की सम्पत्ति है। हम धातु का सृजन नहीं कर सकते; इसे हमें खान से लेना होगा जो कि भगवान् की सम्पत्ति है। मिट्टी तथा मिट्टी से बनी ईंटें भी भगवान् की सम्पत्ति हैं। हम केवल अपना श्रम लगाते हैं, किन्तु वह श्रम भी भगवान् की ही सम्पत्ति है। हम हाथों से काम करते हैं, लेकिन वे हाथ भी तो हमारे नहीं अपितु ईश्वर की मालिकी के हैं, क्योंकि जब हाथ को उपयोग में लाने की शक्ति भगवान् द्वारा वापस ले ली जाती है, तो हाथ बेकार हो जाते हैं।

हमें इस मनुष्य-जीवन रूपी महान् अवसर का उपयोग इन सब बातों को समझने में करना चाहिए, जो *श्रीमद्भागवतम्* तथा *श्रीमद्भगवद्गीता* जैसे वैदिक ज्ञान के प्रामाणिक ग्रन्थों में उल्लेखित हैं। शुकदेव गोस्वामी *श्रीमद्भागवतम्* में घोषित करते हैं कि वास्तविक पश्चात्ताप में विचारशीलता, गम्भीरता तथा ध्यान की आवश्यकता होती है। मनुष्य को

इस बात पर विचार करना चाहिए कि वह शरीर है या इस शरीर से परे है और उसे यह जानने का प्रयास करना चाहिए कि *भगवान्* क्या हैं? कृष्णभावनामृत में इन सारे सिद्धान्तों का अध्ययन करना होता है। हमें न तो चंचल होना चाहिए, न समय गँवाना चाहिए। यदि कोई यह ज्ञान पाना चाहता है, तो उसे तपस्या करनी होगी और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तपस्या का शुभारम्भ ब्रह्मचर्य या सीमित यौन जीवन है। भौतिक आकर्षण की धुरी कामवासना है, जो न केवल मानव-समाज पर लागू होती है अपितु पशु-समाज पर भी लागू होती है। गौरेया तथा कबूतर दिन में तीन सौ बार सम्भोग करते हैं, यद्यपि वे नितान्त शाकाहारी होते हैं। लेकिन शेर, जो शाकाहारी नहीं होता, वर्ष में एक बार ही सम्भोग करता है। आध्यात्मिक जीवन में मूल बात यह नहीं है कि शाकाहारी होना, अपितु वह है कि उच्चतर ज्ञान को समझना। जब मनुष्य उच्च ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तो वह स्वत: शाकाहारी बन जाता है। *पण्डिता: समदर्शिन:*—जो अत्यन्त विद्वान् पण्डित है वह विद्वान ब्राह्मण, हाथी, कुत्ते तथा गाय में कोई अन्तर नहीं देखता। वह *समदर्शी* होता है; उसकी दृष्टि उन सबको समभाव से देखने का सामर्थ्य देती है। यह कैसे होता है? वह शरीर को नहीं देखता अपितु आत्मा या आध्यात्मिक स्फुल्लिंग (ब्रह्म) को देखता है। वह सोचता है, "यह कुत्ता है, लेकिन यह भी एक जीव है यद्यपि अपने पूर्व कर्म के कारण वह कुत्ता बना है और यह विद्वान् मनुष्य भी एक जीवित स्फुल्लिंग है लेकिन उसे अपने पूर्व कर्म के अनुसार उत्तम जन्म मिला है।" जब कोई इस अवस्था को प्राप्त होता है, तो वह शरीर को नहीं अपितु आध्यात्मिक स्फुल्लिंग को देखता है और विभिन्न जीवों में अन्तर नहीं देखता।

वास्तव में हम मांसाहारियों तथा शाकाहारियों में भेद नहीं रखते, क्योंकि गाय या मेमना जिस घास को खाते हैं, उसमें भी उनकी तरह

जीवन होता है। किन्तु *श्रीईशोपनिषद्* में दिया गया वैदिक आदेश हमारा पथप्रदर्शक होना चाहिए :

ईशावास्यमिदम् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्य स्विद् धनम्।

"इस ब्रह्माण्ड के भीतर प्रत्येक जड़ या चेतन वस्तु भगवान् द्वारा नियंत्रित है और उन्हीं की सम्पत्ति है। अत: मनुष्य को चाहिए कि अपने लिए उन्हीं वस्तुओं को ग्रहण करे, जो उसके लिए आवश्यक हैं और जो उसके भाग के रूप में पहले से अलग कर दी गई हैं। उसे अन्य वस्तुएँ यह भली-भाँति जानते हुए कि वे किसकी हैं, ग्रहण नहीं करनी चाहिए।" (*श्रीईशोपनिषद्, मन्त्र* १)

चूँकि हर वस्तु परमेश्वर की सम्पत्ति है। अतएव मनुष्य उतने अंश का ही भोग कर सकता है, जितना ईश्वर ने उसके लिए नियत किया है। वह दूसरे की सम्पत्ति को स्पर्श नहीं कर सकता। वैदिक जीवन पद्धति के अनुसार तथा समस्त वैदिक शास्त्रों के अनुसार मनुष्य को फलों तथा शाकों का भोजन करना चाहिए, क्योंकि उसके दाँत इस तरह के बने हैं कि वे वस्तुएँ आसानी से खायी तथा पचायी जा सकती हैं यद्यपि यह प्रकृति का नियम है कि एक जीव दूसरे को खाकर जीवित रहता है (*जीवो जीवस्य जीवनम्*), लेकिन मनुष्य को विवेक से काम लेना चाहिए। फल, फूल, शाक, चावल, अन्न तथा दूध मनुष्यों के लिए बने हैं। उदाहरणार्थ, दूध पशु-उत्पाद है, पशु का रक्त बदल कर दूध बनता है, लेकिन गाय अपने बछड़े की आवश्यकता से अधिक दूध देती है क्योंकि दूध मनुष्य के लिए बना है। मनुष्य को चाहिए कि दूध दुहकर गायों को जीवित रहने दें और इस प्रकार प्रकृति के नियम का पालन करते हुए मनुष्य सुखी रहेगा। *तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा*—मनुष्य को ईश्वर ने

जो कुछ दे रखा है, वह उसे ग्रहण करना चाहिए और सुखपूर्वक जीवन बिताना चाहिए।

हमें श्रीकृष्ण के इस विज्ञान के माध्यम से अपनी चेतना को ऊपर उठांना है। दानवृत्ति सबके हृदय में है, लेकिन हम यह नहीं जानते कि इसका सदुपयोग किस प्रकार किया जाए। हम जो कुछ शक्ति का व्यय करते हैं, वह सब श्रीकृष्ण के लिए होना चाहिए क्योंकि यह सब शक्ति उन्हीं की है। श्रीकृष्ण के लिए व्यय करके हम कुछ खोएंगे नहीं। श्रीकृष्ण इतने दयालु हैं कि जब हम उन्हें भोजन अर्पित करते हैं, तो वे उसे स्वीकार करके सब कुछ हमारे खाने के लिए छोड़ देते हैं। हम केवल श्रीकृष्ण को भोजन अर्पित करके ही भक्त बन सकते हैं। इसके लिए हमें एक छदाम भी अतिरिक्त व्यय नहीं करना होगा। उच्चतर विचार की दृष्टि से हर वस्तु श्रीकृष्ण की है, लेकिन यदि हम श्रीकृष्ण को हर वस्तु अर्पित करेंगे, तो हम ऊपर उठेंगे। शुद्ध जीवन में उन्नति के लिए यह सर्वोत्कृष्ट एवं आजमाया हुआ सिद्ध मार्ग है।

५

कृष्णभावनामृत में दृढ़ होना सीखना

जब मनुष्य भौतिक ऐश्वर्य की उच्चतम स्थिति तक पहुँच जाता है, तो त्याग की प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। इस भौतिक जगत् में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं—भोग (इन्द्रिय भोग) तथा त्याग (इस भौतिक जगत् का परित्याग)। किन्तु बिना समुचित मार्गदर्शन के मनुष्य यह नहीं जानता कि त्याग किस तरह किया जाए। सर्वप्रथम मनुष्य भोग करना चाहता है और जब उसे भोग में निराशा प्राप्त होती है, तो वह उसे त्यागता है। पुन: जब वह त्याग से ऊब उठता है, तो वह पुन: भोग में आ जाता है और इस तरह वह घड़ी के पेंडुलम की भाँति इधर से उधर हिलता-डुलता रहता है। इस तरह हम भोग के पद से त्याग के पद तक और पुन: वहीं वापस दोलायमान होते रहते हैं।

कर्मी या सकाम कर्म करनेवाले इस जगत् का भोग करने तथा इससे फल पाने का प्रयास करते हैं। फलस्वरूप वे निरन्तर, सारा दिन तथा सारी रात, भौतिक भोग में व्यस्त रहने के लिए राजमार्गों पर तेजी से दौड़ते रहते हैं। दूसरी ओर अन्य लोग हैं जो प्रधानतया अपनी युवावस्था से असंतुष्ट होकर इस भोग का कुछ भी भाग नहीं लेना चाहते। इस प्रकार इस संसार में दो तरह के लोग हैं—वे जो भोग में लगे हैं और वे जो त्याग में लगे हैं। लेकिन हम इनमें से किसी भी मार्ग पर चलकर सुखी नहीं होंगे क्योंकि हमारी वास्तविक स्थिति न तो भोग की है, न त्याग की।

चूँकि हर वस्तु श्रीकृष्ण की है, अन्य किसी की नहीं। अतएव जो कुछ भी हमारे पास है, वह वास्तव में श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है (*ईशावास्यमिदम् सर्वम्*)। चूँकि हमने वृक्षों, पौधों, नदियों या धरती को उत्पन्न नहीं किया। अतएव हम उन पर दावा नहीं कर सकते। चूँकि हमारे पास वास्तव में कुछ भी नहीं है। अतएव हम कुछ भी त्याग नहीं सकते। जैसी कि कहावत है : हम खाली हाथ आए थे और खाली हाथ जाएंगे। इसके बीच की अवधि में हम झूठे ही दावा करते हैं, "यह मेरा देश है, यह मेरा घर है, यह मेरी पत्नी है, ये मेरे बच्चे हैं, यह मेरी सम्पत्ति है, यह मेरा बैंक का खाता है, आदि।" ऐसे सारे दावे झूठे हैं क्योंकि जब हम इस संसार में आते हैं, तो खाली हाथ आते हैं और जब यहाँ से जाएंगे, तो खाली हाथ ही जाएंगे। तो फिर भोग तथा त्याग का क्या अर्थ हुआ? वास्तविक तथ्यों के आधार पर इनका कोई असली अर्थ नहीं होता। भोग तो चौर-कर्म है और जो हमारा कभी था ही नहीं, उसका त्याग एक प्रकार का पागलपन है।

इस बारे में श्रीकृष्ण हमें यह निर्देश देते हैं—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*। (*श्रीमद्भगवद्गीता* १८.६६) यद्यपि भोग तथा त्याग के आधार पर हमने अनेक धर्मों की रचना कर ली है, लेकिन इधर हमें यह परामर्श दिया जाता है कि इन सबको छोड़कर श्रीकृष्ण की शरण में जाओ। भोग करना तथा त्याग करना हमारे बूते का नहीं। जब *श्रीमद्भगवद्गीता* में त्याग की संस्तुति की जाती है, तो इसका अर्थ उन समस्त वस्तुओं का परित्याग है, जिन्हें हम झूठे ही अपनी कहते हैं। एक बालक अपने पिता से एक सौ डॉलर का नोट लेकर अपने पास रखने का प्रयास करता है, यद्यपि उसे यह पता नहीं रहता कि इसका उपयोग कैसे किया जाए। पिता अपने पुत्र से याचना कर सकता है, "बेटे! कृपया इसे मुझे दे दो।" बालक न तो यही जानता है कि यह धन

सचमुच उसके पिता का है, न यही समझ पाता है कि इसे पिता को दे देना ही उत्तम होगा, क्योंकि सीधी-सी बात यह है कि वह इस धन को उपयोग में लाना नहीं जानता। इसी प्रकार श्रीकृष्ण कहते हैं, "तुम मेरे लिए अपने कर्म का त्याग करो। तुम अपनी सम्पत्ति का मेरे लिए त्याग करो।" श्रीकृष्ण भिखारी नहीं हैं, क्योंकि सारी वस्तुएँ उन्हीं की हैं, लेकिन वे हमें छोटे बालकों जैसा मानते हैं। हर वस्तु उनको दे देने के उनके आग्रह का पालन ही त्याग कहलाता है और यह ऐसा साधन है जिसके द्वारा मनुष्य कृष्णभावनामृत तक ऊपर उठ सकता है। तपस्या, ब्रह्मचर्य, समभाव तथा दान—ये सभी परम सत्य की अनुभूति के लिए आवश्यक हैं। कृष्णभावना सापेक्ष सत्य से नहीं अपितु परम सत्य से सम्बन्धित है। *श्रीमद्भागवतम्* में व्यासदेव परम सत्य की वन्दना करते हैं (*सत्यं परं धीमहि*)। वे सापेक्ष सत्य को प्रणाम नहीं करते अपितु अन्तिम सत्य, परम सत्य को प्रणाम करते हैं। यह ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे उन गुणों का अभ्यास करें जिनसे परम सत्य की अनुभूति की जा सकती है।

ब्राह्मण को स्वच्छता, सत्य, मन तथा इन्द्रियों का निग्रह, सरलता आदि का अभ्यास करके तथा वेदों में और विशेष रूप से *श्रीमद्भगवद्गीता* में श्रद्धा उत्पन्न करके योग्य बनना चाहिए। जब श्रीकृष्ण कहते हैं, "मैं परमेश्वर हूँ" तो हमें मूर्खतापूर्वक नहीं अपितु श्रद्धा और पूर्ण ज्ञान के साथ उन्हें स्वीकार करना चाहिए और इस स्वीकृति को अपने दैनन्दिन जीवन में उतारना चाहिए। ब्राह्मण जन्म से उत्पन्न नहीं होता अपितु शिक्षा, अभ्यास तथा ज्ञान से उत्पन्न होता है। यह जन्म का नहीं अपितु गुण का प्रश्न है, जैसा कि *श्रीमद्भगवद्गीता* (४.१३) में श्रीकृष्ण ने संकेत दिया है :

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

"भौतिक प्रकृति के तीन गुणों तथा उनके नियत कर्म के अनुसार मानव-समाज के चार विभाग मेरे द्वारा रचे गए हैं यद्यपि मैं इस व्यवस्था का स्रष्टा हूँ, लेकिन तुम जान लो कि मैं फिर भी अविनाशी होने के कारण अकर्ता हूँ।"

मनुष्य में केवल ब्राह्मण के गुण हो यह पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे ब्राह्मण के समान कर्म भी करना चाहिए क्योंकि मनुष्य के गुणों की परीक्षा कर्म से होती है। यदि कोई योग्यता प्राप्त इंजीनियर हो, लेकिन घर में बैठा रहे और कार्य न करे, तो उसका क्या महत्त्व है? इसी प्रकार जब तक मनुष्य ब्राह्मण के रूप में कर्म नहीं करता, तब तक उसके इस तरह कहने से कोई लाभ नहीं कि, "मैं ब्राह्मण हूँ"। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह परम ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में पूरी तरह से लगकर ब्राह्मण के समान कर्म करे।

परम सत्य की सेवा किस तरह की जा सकती है? *यमेन नियमेन च*—योग का अभ्यास अथवा परब्रह्म से सन्नद्ध होने की क्रिया यम तथा नियम पर आधारित है। संयम के बिना नियमों का पालन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य को विचारवान् बनना चाहिए और अपने आपको शुद्ध बनाना चाहिए। यदि कोई परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहता है, तो उसे स्कूल जाना पड़ता है, स्कूल के नियमों का पालन करना होता है और पढ़ाई में कुछ कष्ट उठाना होता है, तभी वह क्रमशः सफल हो पाता है। यदि वह दिनभर सड़कों पर खेलता रहे, तो फिर किस तरह वह सफलता की आशा कर सकता है? अतएव शुकदेव गोस्वामी जिस विधि का वर्णन कर रहे हैं, उसकी पहली आवश्यकता है तपस्या। भले ही तपस्या तथा ब्रह्मचर्य शायद कष्टप्रद लगे, क्योंकि हम प्रतिबन्धित नहीं होना चाहते, लेकिन ज्योंही हम नियमित बन जाते हैं, त्योंही पहले जो कष्टप्रद लग रहा था वह वास्तव में कष्टप्रद नहीं रह जाता।

व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—*धीर* तथा *अधीर*। जब कोई उत्तेजना होते हुए भी या मानसिक क्षोभ का कारण उत्पन्न होने पर भी अपनी स्थिति में सुदृढ़ रहता है, वह *धीर* कहलाता है। धीर का उदाहरण संस्कृत के महान् कवि कालिदास पण्डित ने अपनी कृति *कुमारसम्भव* में दिया है, जो भगवान् शिवजी से सम्बन्धित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब देवतागण असुरों से लड़कर हारने लगे, तो उन्होंने निश्चय किया कि उनकी रक्षा शिवजी के वीर्य से उत्पन्न सेनानायक द्वारा ही सम्भव है, लेकिन शिवजी उस समय ध्यानमग्न थे। अतएव उनका वीर्य प्राप्त कर पाना अत्यन्त कठिन था। अतएव उन्होंने उनके पास एक तरुण बाला पार्वती को भेजा जो उनके समक्ष उपस्थित होकर उनके लिंग की पूजा करने लगी यद्यपि वह बाला शिवजी के समक्ष बैठी थी और उनके लिंग को स्पर्श कर रही थी, किन्तु वे ध्यान में स्थिर रहे। कालिदास कहते हैं, "यह धीर का उदाहरण है, क्योंकि तरुणी बाला द्वारा उनका लिंग स्पर्श करने पर भी शिवजी अविचलित रहे।"

इसी प्रकार किसी ने हरिदास ठाकुर को विचलित करने के लिए उनके पास एक तरुण वेश्या भेजी। जब उसने उनसे सम्भोग करने के लिए प्रार्थना की तो हरिदास ठाकुर ने कहा, "तुम्हारा प्रस्ताव अत्युत्तम है। कृपया बैठ जाओ और मुझे अपना जप समाप्त कर लेने दो, तब हम आनन्द लेंगे।" इस तरह सुबह हो गई और वह वेश्या अधीर हो उठी, लेकिन हरिदास ठाकुर ने उत्तर दिया, "मुझे अत्यन्त खेद है कि मेरा जप पूरा नहीं हो पाया। आज रात पुनः आना।" इस तरह वह वेश्या तीन रात लगातार आती रही और तीसरी रात वह उनके चरणों में गिर पड़ी, उसने अपनी भूल स्वीकार की और उनसे अनुनय-विनय की, "मैंने आपके शत्रु के बहकावे में आकर यह कर्म किया। कृपया मुझे क्षमा करें।" तब हरिदास ठाकुर ने उत्तर दिया, "मैं सब कुछ जानता हूँ, लेकिन मैंने तुम्हें

तीन दिनों तक यहाँ आने की अनुमति इसलिए दी, जिससे तुम बदल कर भक्त बन सको। अब यह जपमाला लो और लग जाओ जप में। मैं यह स्थान छोड़ रहा हूँ।" यह धीर का एक अन्य उदाहरण है जिसमें उन्हें अपनी देह, अपनी वाणी तथा बुद्धि पर नियंत्रण है। जो मनुष्य धीर है और वास्तव में धर्म को जानता है वह अपने शरीर, वचन तथा बुद्धि पर नियंत्रण रखता है।

हम अनादिकाल से पापकर्म करते आए हैं। हमें पता नहीं यह कब से आरम्भ हुआ, लेकिन यह जीवन उन सारी त्रुटियों के सुधार के लिए है जिन्हें हम कर चुके हैं। यदि खेत में उगे आवांछित खरपतवार में आग लगा दी जाए, तो वे सब जल जाते हैं। इसी तरह तपस्या की विधि से समस्त पापकर्मों को समाप्त करके शुद्ध बना जा सकता है। लेकिन शुकदेव गोस्वामी एक वैकल्पिक विधि का सुझाव देते हैं—*केचित् केवलया भक्त्या वासुदेव-परायणाः / अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारम् इव भास्करः*—सामान्यतः यदि मनुष्य ब्रह्मचर्य, समता, दान आदि का तपोमय पवित्र जीवन बिताता है तो लोग कहेंगे कि वह अत्यन्त पुण्यात्मा है, लेकिन केवल कृष्णभावनाभावित होने से मनुष्य अपने पूर्व पापमय जीवन के समस्त फलों को नष्ट कर सकता है। सूर्य के उदय होते ही कुहरा मिट जाता है और श्रीकृष्ण हजारों सूर्य की तरह तेज लेकर प्रकट होते हैं।

यह विधि केवल अत्यन्त भाग्यशाली व्यक्ति द्वारा ही ग्रहण की जाती है। अतएव श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—(*एई रूप*) *ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव / गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता बीज।* "श्रीकृष्ण तथा गुरु की दया से, भाग्यवान् व्यक्ति ब्रह्माण्ड भर में विविध योनियों में घूमने के पश्चात् शुद्ध भक्ति के बीज को प्राप्त करता है।" कृष्णभावनामृत अत्यन्त भाग्यशालियों के लिए है, क्योंकि एकमात्र इस विधि को स्वीकार करके मनुष्य तपस्या, त्याग, ब्रह्मचर्य आदि सारे

कर्तव्यों को लाँघ जाता है। शुकदेव गोस्वामी घोषित करते हैं—*केचित् केवलया भक्त्या*—जो अत्यन्त भाग्यशाली होता है, वही शुद्ध भक्ति की प्रक्रिया को ग्रहण करता है। *केवला भक्ति* शुद्ध अव्यभिचारिणी भक्ति की सूचक है जिसमें श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं रहती। किसी को अपनी आय बढ़ाने मात्र के उद्देश्य से भक्ति नहीं करनी चाहिए। हम सुखी बनने के लिए धन चाहते हैं लेकिन यदि हम कृष्णभावनामृत ग्रहण कर लें, तो हम स्वतः इतने सुखी हो जाएंगे कि हम धन की उपेक्षा करने लगेंगे। धन तो स्वतः आएगा। सुख भी मिलेगा। इनके लिए अलग से उद्यम करने की आवश्यकता नहीं है।

ध्रुव महाराज ने शोकसंतप्त वाणी में कहा, "मैं कितना मूर्ख था कि मैंने भौतिक लाभ के लिए भक्ति ग्रहण की।" सामान्यतया भौतिक लाभ के लिए लोग अपने वरिष्ठ अधिकारी या किसी धनी व्यक्ति या देवता के पास जाते हैं, लेकिन भक्त भौतिक इच्छाओं के रहते हुए भी श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी के पास नहीं जाता। यदि कोई भौतिक लाभ पाने के लिए भी श्रीकृष्ण के पास जाता है, तो एक दिन ऐसा आएगा जब वह भौतिक इच्छाएँ भूल जाएगा, जैसा कि ध्रुव महाराज ने किया। उन्हें पश्चात्ताप हो रहा था। अतएव उन्होंने कहा, "मैं श्रीकृष्ण के पास आया और मैंने भौतिक वस्तु मांगी, ठीक उसी तरह जिस प्रकार कोई अत्यन्त धनी व्यक्ति को प्रसन्न करके उससे चावल के कुछ कण मांगे।" यदि धनी व्यक्ति हमें, हम जो चाहें सो देने के लिए तैयार हो जाए और हम केवल चावल के कुछ कण मांग लें, तो क्या यह बुद्धिमानी होगी? श्रीकृष्ण से भौतिक लाभ की याचना ऐसी ही है। किसी को श्रीकृष्ण से बाह्य रूप से भौतिक सुख की याचना करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भौतिक सुख तो उसके चरणों पर स्वतः लौटेगा और कहेगा, "कृपया मुझे स्वीकार करें, कृपया मुझे स्वीकार करें।"

जो लोग कृष्णभावनामृत का अभ्यास कर रहे हैं, उन्हें किसी तरह के भौतिक ऐश्वर्य की आवश्यकता नहीं रह जाती जैसे कि स्त्री, बच्चे का सुख या घरबार आदि, क्योंकि श्रीकृष्ण की कृपा से ये सब स्वतः उपलब्ध हो जाते हैं। श्रीकृष्ण से इन भौतिक वस्तुओं के लिए याचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, उसे तो बस इतनी प्रार्थना करनी है, "कृपया मुझे अपनी सेवा में लगा लें।" *श्रीमद्भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण वचन देते हैं कि यदि कोई उनकी सेवा में लगता है, तो उसकी आवश्यकता वे पूरी करेंगे और पहले से जो उसके पास है उसकी सुरक्षा करेंगे। अर्जुन को दिये गए अन्तिम उपदेशों में से एक में उन पर पूर्ण निर्भरता का संकेत है :

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

"सारे कर्मों तथा उनके फलों के लिए केवल मुझ पर आश्रित रहो और सदैव मेरे संरक्षण में कार्य करो। ऐसी भक्ति में पूर्णतया मेरी चेतना में रहो।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* १८.५७)।

६

उपाधियों एवं समस्याओं के पार

भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से कृष्णभावनामृत की प्राप्ति सहज रूप से हो जाती है, लेकिन भगवान् श्रीचैतन्य तथा उनकी शिष्य परम्परा का अनुग्रह जिनको मिल पाता है ऐसे भाग्यशाली मनुष्य बहुत कम होते हैं। *श्रीमद्भगवद्गीता* के अनुसार :

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

"हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है और जिन लोगों ने सिद्धि प्राप्त कर ली है, उनमें से कोई विरला ही मुझे तत्त्व से जानता है।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* ७.३)

भगवत्-साक्षात्कार पशुओं या पशुतुल्य मनुष्यों या मानव रूपी पशुओं के लिए सम्भव नहीं है। समकालीन सभ्यता बहुत कुछ पशुओं की सभा जैसी है, क्योंकि जैसा पहले बताया जा चुका है यह पाशविक प्रवृत्तियों के आधार पर संचालित होती है। पक्षी तथा पशु भोर होते ही जग जाते हैं और भोजन तथा मैथुन की खोज में व्यस्त हो जाते हैं एवं अपनी-अपनी आत्मरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। रात्रि में वे आश्रय खोजते हैं और भोर होते ही पुनः बीज तथा फल की खोज में वृक्षों की ओर उड़ जाते हैं। इसी प्रकार न्यूयार्क में लोगों के बड़े-बड़े समूह एक द्वीप से दूसरे द्वीप की यात्रा जलनौकाओं से करते हैं या किसी

सबवे (स्थानीय भूमिगत रेलगाड़ी) की प्रतीक्षा करते रहते हैं जिससे आजीविका की खोज के लिए वे अपने-अपने कार्यालय जा सकें। तो यह पशु-जीवन की तुलना में किस तरह से प्रगति है? यद्यपि जलनौका तथा स्थानीय रेलगाड़ियाँ सदैव भीड़ से भरी रहती हैं और अनेक लोगों को जीविका के लिए ४०-५० मील जाना आना पड़ता है, किन्तु पक्षी भी एक वृक्ष से उड़कर दूसरे वृक्ष पर जाने के लिए स्वतंत्र रहते हैं।

वास्तविक सभ्यता मनुष्य की पाशविक आवश्यकताओं को पूर्ण करने से ही सम्बन्धित नहीं है, अपितु वह परम पिता परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझने में समर्थ बनाती है। मनुष्य ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के बारे में किसी भी विधि से सीख सकता है—चाहे ईसाइयत के द्वारा या वैदिक साहित्य के द्वारा अथवा कुरान के माध्यम से—लेकिन प्रत्येक दशा में उसे सीखना तो आवश्यक ही है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रयोजन ईसाइयों को हिन्दू बनाना या हिन्दुओं को ईसाई बनाना नहीं है, अपितु हर व्यक्ति को यह सूचित करना है कि मनुष्य का कर्तव्य है कि वह ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझे। मनुष्य को इसे अवश्य सीखना चाहिए अन्यथा वह पाशविक वृत्तियों में प्रवृत्त होकर अपने समय को व्यर्थ गँवाता है। हमें श्रीकृष्ण या ईश्वर से प्रेम करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि किसी के पास कोई विधि है, तो वह उसका अभ्यास करे अन्यथा वह हमारे पास आकर इस विधि को सीख सकता है। उसे एक विधि का चुनाव करते हुए दूसरी विधि से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। *विषादप्यमृतं ग्राह्यम् अमेध्यादपि काञ्चनम् / नीचादप्युत्तमं विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि* (*नीति दर्पण* १.१६)। चाणक्य पण्डित कहते हैं कि जो अच्छा हो उसे किसी भी स्रोत से ग्रहण करना चाहिए। यदि एक गिलास में कुछ विष हो और कुछ अमृत भी हो, तो चाणक्य के कथनानुसार मनुष्य को चाहिए कि अमृत को निकाल

ले और विष को उसी में रहने दे। इसी प्रकार यदि किसी को कूड़े में सोना पड़ा मिल जाए तो उसे उठा लेना चाहिए। इसी प्रकार से यद्यपि वैदिक शिक्षा पद्धति के अनुसार ब्राह्मण जैसे बुद्धिमान् व्यक्तियों से ही शिक्षा ग्रहण की जानी चाहिए, लेकिन यदि किसी निम्न जातिवाले ने सत्य सीखा है तो उसे शिक्षक के रूप में स्वीकार करके उससे विद्या ग्रहण कर लेनी चाहिए। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि यह निम्न जाति में उत्पन्न है। अतएव शिक्षक नहीं स्वीकार किया जा सकता।

इसी प्रकार यदि कोई ईश्वर को सचमुच जानना चाहता है, तो उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि, "मैं ईसाई हूँ," "मैं हिन्दू हूँ" या "मैं मुसलमान हूँ।" यदि कोई सचमुच ईश-प्रेम को समझना चाहता है, तो उसे यह विचार करना चाहिए कि कौन-सी विधि व्यावहारिक है। उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं क्यों हिन्दू या वैदिक शास्त्रों का पालन करूँ? वैदिक शास्त्रों के पालन करने का उद्देश्य ईश्वर-प्रेम विकसित करना है। जब उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी अमेरिका आते हैं, तो वे यह विचार मन में नहीं लाते कि अध्यापक अमरीकी है, जर्मन है या किसी अन्य राष्ट्रीयतावाला है। यदि वह उच्च शिक्षा ग्रहण करना चाहता है, तो वह आता है और शिक्षा ग्रहण करता है। इसी प्रकार यदि ईश्वर को समझने तथा उन तक पहुँचने की कोई प्रभावशाली विधि है, जिस प्रकार कि यह कृष्णभावनामृत विधि है, तो मनुष्य को चाहिए कि उसे ग्रहण करे।

भक्ति की इस विधि को (*केवलया भक्त्या*) सभी लोग नहीं अपितु जो बुद्धिमान् तथा भाग्यशाली हैं, वे ही ग्रहण करते हैं और उनकी एकमात्र अभिलाषा श्रीकृष्ण की सेवा करने की रहती है। भक्तगण ब्राह्म-मुहूर्त से लेकर रात्रि में देर तक श्रीकृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं। यह *केवलया* या शुद्ध भक्ति कहलाती है, क्योंकि भक्तों के लिए अन्य कोई कार्य नहीं रहता। यह विधि सबके लिए संस्तुत की जाती है और यह समस्त धार्मिक

विधियों की सिद्धि है। (*स वै पुंसा परो धर्मो यतो भक्तिर् अधोक्षजे*)। संस्कृत में *परा* तथा *अपरा* दो शब्द हैं जो धर्म के प्रति श्रेष्ठ (दिव्य) तथा निकृष्ट (भौतिक) विचारधारा का वर्णन करते हैं। भौतिक धर्म अर्थात् भौतिक लाभ के लिए किये गए धर्म के पालन हेतु लोग सामान्यतया गिरजाघर या मन्दिर में जाकर प्रार्थना करते हैं, "हे ईश्वर! हमें आज की रोटी दीजिए।" वास्तव में ऐसी याचना करने की जरूरत नहीं है क्योंकि रोटी की व्यवस्था तो सबके लिए की गई है। यहाँ तक कि पक्षी तथा पशु गिरजाघर गए बिना और ईश्वर से मांगे बिना अपना भोजन प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार हमें भी रोटी प्रदान की गई रहती है, चाहे हम गिरजाघर जाएँ या नहीं। समस्या यह नहीं है, क्योंकि सड़कों पर भूख के मारे कोई नहीं मर रहा होता है। हमें एक भी पक्षी, पशु यहाँ तक कि चींटी भी भूख से मरती नहीं दिखती। भोजन तो है, हमें उसके लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यदि बुद्धि का उपयोग करना है, तो श्रीकृष्ण या ईश्वर के लिए करना चाहिए। समय का यही सदुपयोग है। ईश्वर के राज्य में रोटी की कमी नहीं है।

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः। *श्रीमद्भागवतम्* का कथन है कि हमें उस वस्तु को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए, जिसे हम पूरे ब्रह्माण्ड का विचरण करके भी प्राप्त नहीं कर सकते। वह क्या है? *केवलया भक्त्या*—विशुद्ध भक्ति। भगवान् की व्यवस्था से इस ग्रह में पर्याप्त अन्न, भूमि तथा अन्न पैदा करने की व्यवस्था आदि हैं, लेकिन हमने वस्तुओं की ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि विश्व के एक भाग में लोग भूखों मर रहे हैं, तो दूसरे भाग में अनाज समुद्र में फेंका जा रहा है। वेदों का कथन है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—परम पुरुष अनेक जीवों को भोजन की पूर्ति कराते हैं। इस भौतिक संसार की कठिनाई यह है कि हम अपनी आवश्यकता से अधिक लेते हैं और इस तरह हम अपने लिए नयी समस्याएँ उत्पन्न कर

लेते हैं। समस्याएँ ऐसे मनुष्यों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, जिनका मार्गदर्शन तथाकथित राजनीतिज्ञ करते हैं। प्रकृति या ईश्वर की विधि से हर वस्तु पूर्ण है। *श्रीईशोपनिषद्* के मतानुसार :

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

"भगवान् अखण्ड तथा पूर्ण हैं और इस कारण उनसे उद्भूत सारी वस्तुएँ यथा यह परिवर्तनशील जगत् पूर्ण के रूप में सज्जित है। पूर्ण से जो भी उत्पन्न होता है वह भी अपने में पूर्ण है। चूँकि परमेश्वर पूर्ण हैं। अतएव उनसे कितनी ही पूर्ण इकाइयाँ उद्भूत होने पर भी वे पूर्ण ही बने रहते हैं।" (*श्रीईशोपनिषद्, ईशप्रार्थना*)। ईश्वर पूर्ण हैं, उनकी सृष्टि पूर्ण है और उनकी व्यवस्था पूर्ण है, लेकिन हम सभी उत्पात मचाते रहते हैं। असली शिक्षा वह है जो लोगों को कृष्णभावनाभावित बनाती है, जिससे वे पृथ्वी के संसाधनों का समुचित उपयोग कर सकें और उत्पात करना बन्द कर दें। संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्ताव पारित करके समस्याएँ हल नहीं की जा सकतीं। मनुष्य को समस्याएँ हल करने की वास्तविक विधि जाननी चाहिए।

शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि केवल शुद्ध भक्ति के द्वारा जीवन की सारी समस्याएँ हल की जा सकती हैं। ऐसा कौन कर सकता है? ऐसा कर पाना सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं, लेकिन जो *वासुदेव-परायणः* अर्थात् *भगवान् श्रीकृष्ण* (वासुदेव) के भक्त हैं, वे ही ऐसा कर सकते हैं। जिनकी चिन्ता केवल श्रीकृष्ण को तुष्ट करना है और जो शुद्ध अनन्य भक्ति करते हैं वे ही जीवन की समस्याओं को हल कर सकते हैं।

अघं धुन्वन्ति—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, समस्याएँ पापकर्मों से उत्पन्न होती हैं यद्यपि भोजन पर्याप्त है, लेकिन लाभ उठाने के लिए या केवल संग्रह करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति आवश्यकता से अधिक संग्रह कर लेता है। भारत में १९४२ में जो कृत्रिम दुर्भिक्ष पड़ा वह

लोगों के द्वारा धन संग्रह करने तथा अनावश्यक रूप से अन्न संग्रह करने से उत्पन्न हुआ था। धनी लोगों ने चावल संग्रह कर लिया जो उस समय ६ /- रुपये प्रति सेर बिक रहा था, लेकिन अकस्मात् एक सप्ताह के भीतर दाम बढ़कर ५० /- रुपये प्रति सेर हो गए। फलस्वरूप बाजारों में से चावल लुप्त हो गया था और लोग भूखों मरने लगे। उस समय उपस्थित एक अमरीकी महाशय ने कहा था, "यदि हमारे देश में लोग इस तरह भूखों मर रहे होते, तो वहाँ क्रान्ति हो गई होती।" लेकिन भारत के लोग इस तरह प्रशिक्षित तथा सुसंस्कृत थे कि इस कृत्रिम दुर्भिक्ष के बावजूद भी उन्होंने क्रान्ति करने के बजाय शांतिपूर्वक मर जाना श्रेयस्कर समझा। नि:संदेह, यह तो केवल एक उदाहरण है, लेकिन इससे पता चलता है कि किस तरह समस्याएँ ईश्वर द्वारा उत्पन्न न की जाकर मनुष्यों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के समय जर्मनी में स्त्रियाँ गिरजाघर में जाकर ईश्वर से प्रार्थना करती थीं, कि वे उनके पतियों, पुत्रों तथा भाइयों को सकुशल वापस ला दें, लेकिन उनमें से कोई भी वापस नहीं आया। इसलिए ये सारी स्त्रियाँ नास्तिक बन गईं। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि ईश्वर ने युद्ध तथा इसकी समस्याओं का कभी समर्थन नहीं किया था। वे ईश्वर के पास समाधान के लिए गईं। जब हम अपनी समस्याएँ स्वयं उत्पन्न करते हैं, तो हमें उनके परिणाम खुद भोगने पडते हैं।

लेकिन यह सत्य है कि जो व्यक्ति भगवान् अर्थात् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता है, उसकी सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं। इसलिए चाहे कोई अन्य कारण न भी हो, लेकिन इस कारण से मनुष्य को भगवान् वासुदेव की भक्ति करनी चाहिए। *वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:।* यदि कोई भगवान् वासुदेव की भक्ति करता है, तो उसे अविलम्ब सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त होगा (*जनयत्याशु वैराग्यम्*)। *ज्ञान-वैराग्यम्* शब्द का अर्थ है, 'वह ज्ञान जिससे मनुष्य भौतिक आसक्ति से विरक्त हो जाता है।'

ज्ञान का अर्थ है ज्ञान और *वैराग्यम्* का अर्थ है विरक्ति। ज्ञान तथा वैराग्य दोनों ही इस मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं। मनुष्य को यह जानना चाहिए कि, "मैं आत्मा हूँ, मुझे इस भौतिक जगत् से कोई प्रयोजन नहीं, लेकिन चूँकि मुझमें इसको विभिन्न प्रकार से भोगने की इच्छा है। अतएव मैं इस शरीर से दूसरे में देहान्तरण कर रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि यह कब प्रारम्भ हुआ, लेकिन यह अब भी चल रहा है।" यही असली ज्ञान है। ज्ञानी बनने के लिए मनुष्य को अपनी वैधानिक स्थिति समझनी आवश्यक है और इसका अनुभव करना चाहिए कि इस भौतिक जगत् में वह किस तरह कष्ट भोग रहा है। ज्ञान की सिद्धि तभी मिलती है जब कोई *वासुदेव परायणा:* अर्थात् भगवान्वा-सुदेव का भक्त बन जाता है। *श्रीमद्भगवद्गीता* (७.१९) में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं :

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:॥

"अनेक जन्मों के पश्चात् जिस मनुष्य को यथार्थ ज्ञान होता है, वह मुझे समस्त कारणों का कारण समझकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।" ऐसे महात्मा, जो यह भली-भाँति जानते हैं कि वासुदेव श्रीकृष्ण ही हर वस्तु के स्रोत हैं, अत्यन्त दुर्लभ हैं। बड़ी-बड़ी दाढ़ी तथा मूँछोंवाले ऐसे तथाकथित महात्मा आसानी से मिल जाते हैं, जो सबको बताते हैं कि वे ईश्वर से तदाकार हैं और मरने के बाद वे जागेंगे और ईश्वर बन जाएंगे, लेकिन ये सब वास्तव में महात्मा नहीं होते। वे दुरात्मा होते हैं, कठोर हृदयवाले होते हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण के वैध पद की अनधिकार चेष्टा करते हैं और उनसे एकाकार होना चाहते हैं। यदि किसी कार्यालय का नौकर अपने मालिक का स्थान ग्रहण करने की चेष्टा करे, तो क्या वह मालिक उसे पसन्द करेगा? इसी प्रकार जो जीव *भगवान्* बनने का प्रयत्न करता है, वह भगवान् को अधिक

प्रिय नहीं होता। निःसंदेह, कोई भी व्यक्ति *भगवान्* नहीं बन सकता, लेकिन भगवान् या *भगवान्* का प्रतिद्वंद्वी बनने का यह प्रयास श्रीकृष्ण को पसन्द नहीं आता। जो लोग इस तरह प्रयास करते हैं, उन्हें *श्रीमद्भगवद्गीता* (१६.१९) में द्विषतः कहा गया है। भगवान् कहते हैं :

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

"ईर्ष्या करनेवालों, दुष्टों, मनुष्यों में सबसे निम्नों (नराधमों) को मैं निरन्तर भवसागर में विविध आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ।"

इन व्यक्तियों को नारकीय अवस्था में डाला जाता है, क्योंकि वे भगवान् के पद से द्वेष रखते हैं। सर्वप्रथम वे इस भौतिक जगत् में उच्च स्थान ग्रहण करने का प्रयास करते हैं और जब वे अपने प्रयास में विफल हो जाते हैं, तो वे सोचते हैं, "अब मैं भगवान् का पद ले लूँगा।" निःसंदेह, यह इच्छा भी विफल होती है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति भगवान् नहीं बन सकता। भगवान् सदैव भगवान् हैं और जीव जीव है। भगवान् सर्वोपरि एवं अनन्त हैं, हम क्षुद्र अणु हैं। हमारी स्थिति *भगवान्* की सेवा करने की है और जब हम अपनी स्थिति के अनुसार कर्म करते हैं, तो हम सुखी बनते हैं। *भगवान्* का अनुकरण करने से सुख नहीं मिल सकता। *यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः* (*ब्रह्म-संहिता* ५.४८)। ब्रह्माण्ड असंख्य हैं और महाविष्णु के एक श्वास में ये सारे ब्रह्माण्ड भीतर चले जाते हैं और उनके शरीर में लय हो जाते हैं। तो फिर जीव किस तरह *भगवान्* बन सकता है? भगवान् इतने सस्ते नहीं हैं। अतएव हमें ज्ञान में उन्नति करनी चाहिए और वासुदेव अर्थात् श्रीकृष्ण को परमेश्वर के रूप में स्वीकार करना चाहिए। श्रीकृष्ण के मनुष्य होने का प्रश्न ही नहीं है। जब वे इस पृथ्वी पर प्रकट हुए, तो कभी भी वे सामान्य जीव के रूप में प्रस्तुत नहीं हुए। यहाँ तक कि बाल रूप में भी वे

सामान्य जीव की सामर्थ्य से परे आश्चर्यजनक करतब दिखाते रहे। किसी को यह नहीं मानना चाहिए कि जब वह श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता है, तो वह किसी सामान्य व्यक्ति की शरण ग्रहण करता है, अपितु यह कि वह पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर की शरण ग्रहण कर रहा है। निःसंदेह, इसकी पुष्टि समस्त वैदिक ग्रन्थों से होती है। *अघं धुन्वन्ति*—जब कोई श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता है, तो उसके सारे पापकर्मों के फल ध्वस्त हो जाते हैं। *श्रीमद्भगवद्गीता* (१८.६६) में साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण अपनी ही शरण ग्रहण करने के लिए सलाह देते हैं :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

" सब प्रकार के धर्मों को त्यागकर मेरी शरण ग्रहण करो; बदले में मैं तुम्हारे समस्त पापों के फलों से तुम्हारा उद्धार करूँगा। अतएव तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं करना चाहिए।"

अतएव जो मनुष्य भक्त है (*वासुदेव-परायणाः*) और जो केवल भक्तिमय सेवा में लगा रहता है, वह तुरन्त ही समस्त पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण की सेवा या कृष्णभावनामृत कभी भी तर्कवितर्क की किसी भी मात्रा से प्राप्त नहीं किया जा सकता, अपितु उसे केवल श्रीकृष्ण के शुद्ध भक्त की अकारण कृपा से प्राप्त किया जा सकता है। यह पतित जीवों पर दयाभाव के कारण महात्माओं द्वारा अनुपम भेंट के रूप में उन्हें प्रदान किया जाता है। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण की कृपा से मनुष्य को गुरु मिलते हैं और गुरु की कृपा से मनुष्य को श्रीकृष्ण मिलते हैं। यह सूर्योदय के उपहार के समान है। रात्रि में घना अन्धकार होता है, लेकिन प्रातःकाल ज्योंही सूर्योदय होता है, लाखों मील तक फैला अन्धकार तुरन्त दूर हो जाता है। उसी प्रकार से यदि हम श्रीकृष्ण रूपी सूर्य को अपने हृदयों के भीतर उदित होने दें, तो हमारी सारी समस्याएँ हल हो जाएंगी।

७

अनुपम भेंट : कृष्णभावनामृत में मुक्ति

यदि हम केवल आदि पुरुष की पूजा करें, तो हमें किसी मनुष्य से गुमराह होने का भय नहीं रहता। *श्रीमद्भागवतम्* के मूल टीकाकार श्रीधर स्वामी बताते हैं कि केवल भक्तिमय सेवा (*केवलया भक्त्या*) से मनुष्य जीवन की पूर्णता प्राप्त कर सकता है; उसके लिए उसे किसी अन्य विधि पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि मनुष्य केवल एक ही झटके से (*केवलया*) भौतिक जीवन का अंत ला सकता है। इसमें ऐसी जरूरत नहीं है कि सर्वप्रथम घोर तपस्या करना, फिर ब्रह्मचर्य का पालन करना, मन तथा इन्द्रियों को वश में करना, दान देना, बड़े-बड़े यज्ञ करना तथा अत्यन्त सत्यवादी और शुद्ध बनना। केवल एक ही झटके से—कृष्णभावनामृत स्वीकार करने से—मनुष्य तुरन्त सर्वोच्च पद को प्राप्त हो सकता है। कृष्णभावनामृत का आश्रय लेने से ही मनुष्य में सभी दिव्य गुणों का विकास हो जाता है। सोनार छोटी-सी हथौड़ी से सोने को बारम्बार पीटता है, लेकिन लोहार एक बड़े हथौड़े (घन) का इस्तेमाल करता है और एक चोट से तुरन्त उसका काम बन जाता है। कृष्णभावनामृत भी लोहार की विधि की ही तरह है—हम भक्तियोग रूपी बड़े हथौड़े से पूरे भौतिक जीवन

का अंत कर देते हैं। फिर अनेक छोटे-छोटे अनुशासनों का पालन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, न ही हमें अन्य गौण विधियों का पालन करने की आवश्यकता होती है। वास्तव में पूर्णता प्राप्त करने के लिए किसी अन्य वैदिक विधि का पालन करने की सम्भावना भी नहीं रह जाती। उदाहरणार्थ, हठयोग विधि का कहना है, "तुम्हें एकनिष्ठ ब्रह्मचारी बनना होगा और जंगल में जाकर शरीर को भूमि से समकोण रखकर नाक को अंगुली से छह मास तक दबाए रखना होगा।" ऐसे निर्देशों का पालन भला कौन कर सकेगा? चूँकि वर्तमान युग में यह विधि व्यावहारिक नहीं है। अतएव सोनार की विधि का परित्याग करना होगा। इसका हल यह है कि कृष्णभावनामृत रूपी लोहार के हथौड़े को लेकर सारे पापों के फलों को तुरन्त समाप्त कर दिया जाए।

भक्तिमय सेवा द्वारा मनुष्य को *वासुदेव-परायण* अर्थात् भगवान् श्रीवासुदेव या श्रीकृष्ण का भक्त बनना होता है। दूसरे शब्दों में, हमें सीखना होता है कि किस प्रकार वासुदेव का प्रेमी बना जाए। यदि संसार इस कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर ले, तो यह निश्चित है कि इस ग्रह पर शांति की स्थापना हो जाए। इस समय पृथ्वी तेजी से नारकीय लोक बन रही है और यदि यह कृष्णभावनामृत ग्रहण नहीं किया जाता है, तो शिक्षा तथा आर्थिक विकास में चाहे कितनी ही प्रगति क्यों न हो ले, नारकीय अवस्था बढ़ती ही जाएगी। अतएव जो विचारवान् हैं, उन्हें इस आन्दोलन को गम्भीरतापूर्वक लेना चाहिए और इसके मूल्य को समझने का प्रयास करना चाहिए। यह किसी एक व्यक्ति या शिष्यों के एक समूह द्वारा निर्मित नहीं है। यह प्रामाणिक है, युगों पुराना है और वैदिक ग्रन्थों पर आधारित है, जो हजारों वर्ष पुराने हैं।

निहारम् इव भास्करः—*भास्कर* शब्द सूर्य का बोधक है। सूर्य तुरन्त ही कुहरे तथा अन्धकार को दूर भगा देता है। जैसा पहले कहा जा

चुका है, हमें श्रीकृष्ण रूपी सूर्य को अपने हृदयों के भीतर उदय कराने का प्रयास करना चाहिए। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में भी कहा गया है कि श्रीकृष्ण सूर्य के सदृश हैं और माया, भ्रामक शक्ति, अन्धकार तुल्य है। *याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार*—श्रीकृष्ण रूपी सूर्य के उदित होते ही माया का अन्धकार तुरन्त नष्ट हो जाता है। इस विधि का पालन किये बिना माया रूपी अन्धकार के सागर को पार कर पाना अत्यन्त कठिन है। यदि हम लोगों को केवल श्रीकृष्ण अर्थात् भगवान् की शरण में जाने की शिक्षा दें, तो मोह (माया) का सारा कुहरा विलीन हो जाएगा। यह विधि अत्यन्त सरल है—*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे* का कीर्तन करो।

मनुष्य जितना ही अधिक जप करता है, उतना ही अधिक उसका विगत जन्मों का अन्धकार दूर होता है। *चेतोदर्पण-मार्जनं*—जप या कीर्तन के द्वारा मनुष्य अपने मन रूपी दर्पण की धूल को साफ कर सकता है और फिर वस्तुओं को स्पष्ट रूप में देख सकता है। इस प्रकार वह जान सकेगा कि वह क्या है, ईश्वर क्या है, यह संसार क्या है, इस जगत् में ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध क्या है, इस संसार में किस तरह रहा जाए और हमारा अगला जन्म क्या होगा? ऐसे ज्ञान की शिक्षा स्कूलों में नहीं दी जाती। वहाँ तो उसे केवल यही शिक्षा दी जाती है कि इन्द्रियतृप्ति की चीजों को कैसे प्राप्त करना तथा उसे कैसे बनाना। मनुष्य भौतिक प्रकृति पर विजय पाने के प्रयास में निरन्तर कठिन संघर्ष करता रहता है। लेकिन वह जिस सुविधा को उत्पन्न करने में सफल हो जाता है, उसके साथ असुविधा भी उत्पन्न कर लेता है। उदाहरणार्थ, हाल ही में कुछ इंजीनियरों ने एक ऐसा हवाई जहाज तैयार किया है, जो अत्यधिक वेग से बिना किसी भय के उड़ सकता है। किन्तु जब वह हवाई जहाज उड़ता है, तो वह सारे शहर में कितनी जगह पर खिड़कियों

को तोड़ देता है। इस तरह हमारा समय अनेकानेक मशीनों को तैयार करने में व्यर्थ जाता रहता है जिनसे हमें क्षणिक तथा कृत्रिम सुविधा प्राप्त होती है, किन्तु उसी के साथ उसी अनुपात में असुविधाएँ भी प्राप्त होती हैं। यह कर्म के नियम का एक अंग है—क्रिया एवं प्रतिक्रिया का सिद्धान्त। हम जो कुछ भी करते हैं, उसकी एक प्रतिक्रिया होती है जिससे हम बँध जाते हैं। इसका उल्लेख *श्रीमद्भगवद्गीता* (३.९) में हुआ है :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

"श्रीविष्णु के लिए यज्ञ रूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा कर्म मनुष्य को इस भौतिक संसार से बाँध देता है। इसलिए हे कुन्तीपुत्र! तुम उनकी (श्रीविष्णु की) तुष्टि के लिए अपने नियत कर्तव्य करो। इस प्रकार से तुम अनासक्त तथा बन्धन से मुक्त रहोगे।"

जब मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करता है—चाहे वह अच्छा कर्म हो या बुरा—तो वह कर्म उसे बाँध लेता है, लेकिन यदि वह श्रीकृष्ण के लिए कर्म करता है (*यज्ञार्थात्कर्मणो*), तो वह मुक्त हो जाएगा चाहे उसका कर्म कैसा भी हो।

शुकदेव गोस्वामी केवल अनन्य भक्ति की संस्तुति ही नहीं करते, अपितु वे आगे यह भी कहते हैं कि भक्तिमय सेवा से मनुष्य के पापकर्मों का निषेध हो जाएगा। हममें से प्रत्येक व्यक्ति न्यूनाधिक पापी है, क्योंकि यदि हम पापी न होते, तो हमें भौतिक शरीर में न डाला जाता। ज्योंही मनुष्य पापी जीवन से मुक्त हो जाता है, उसे मुक्ति मिल जाती है और वह आध्यात्मिक शरीर पाकर वैकुण्ठलोक चला जाता है। यह पूरी प्रक्रिया पापपूर्ण या भौतिक जीवन के कल्मष से अपने आप को शुद्ध करने के लिए है।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा, "हे राजन्! जो लोग पापी हैं, वे *तप आदिभि:* अर्थात् तपस्या करके पाप के कल्मष से शुद्ध हो सकते हैं।" लेकिन शुकदेवजी ने यह भी कहा कि इस तपस्या की प्रक्रिया के द्वारा कोई पूरी तरह शुद्ध नहीं हो सकता। ऐसे *योगियों* के अनेक उदाहरण दिये जाते हैं जिन्होंने तपस्या की, किन्तु वे पूरी तरह शुद्ध नहीं हो सके। उदाहरणार्थ, विश्वामित्र मुनि क्षत्रिय थे जो ब्राह्मण बनना चाहते थे, अत: उन्होंने तपस्या करनी प्रारम्भ की, किन्तु बाद में वे स्वर्ग की अप्सरा मेनका के शिकार बने। चूँकि विश्वामित्र विशुद्ध नहीं थे। अतएव वे मेनका के प्रेमपाश में फँस गए जिससे उन्हें एक संतान प्राप्त हुई। इसलिए कहा जाता है कि यदि कोई तपस्या भी करे, तो सांसारिक परिस्थितियाँ इतनी जटिल होती हैं कि वे घूम-फिरकर मनुष्य को प्रकृति के भौतिक गुणों में फँसा लेती हैं। ऐसे *संन्यासियों* के भी अनेक उदाहरण हैं जिन्होंने संसार को मिथ्या बताकर यह कहते हुए छोड़ दिया, "अब मुझे ब्रह्म की ओर मुड़ने दो।" लेकिन जब वे अस्पताल खोलते हैं और परोपकारी एवं कल्याण के कार्य करते हैं, तो वे पुन: संसार के कर्म में फँस जाते हैं। यदि जगत् मिथ्या है, तो वे कल्याण-कार्यों की ओर आकर्षित होते ही क्यों हैं? कृष्णभावनामृत का दर्शन यह मानता है कि यह संसार मिथ्या नहीं है अपितु अस्थायी है। ईश्वर ने यह जगत् बनाया है और ईश्वर सत्य है। अतएव उनकी सृष्टि किस तरह मिथ्या हो सकती है? चूँकि यह ईश्वर की सृष्टि है और ईश्वर परम सत्य हैं। अतएव यह सृष्टि भी सत्य है। हम केवल भ्रमणा के कारण इसे अन्यथा देखते हैं। जगत् एक तथ्य है, लेकिन है अस्थायी तथ्य।

मनुष्य इस संसार की किसी भी वस्तु को अपनी सम्पत्ति होने का दावा कर सकता है, लेकिन यह दावा जूठा है। यह तथ्य है कि यह सम्पत्ति किसी की है, लेकिन है ईश्वर की (*ईशावास्यमिदम् सर्वम्*)।

इसका अर्थ यह नहीं है कि यह सम्पत्ति मिथ्या है। यदि कुछ मिथ्या है तो इस सम्पत्ति के लिए किया जानेवाला दावा मिथ्या है, क्योंकि यह इस गर्वित मिथ्या भावना पर आश्रित है कि व्यक्ति खुद ही उसका स्वामी या ईश्वर है। हर व्यक्ति पहले किसी वस्तु का स्वामी बनना चाहता है, फिर मन्त्री, तब अध्यक्ष और अंत में ईश्वर। जब और सब कुछ विफल हो जाता है, तो जीव ईश्वर बनना चाहता है। प्रवृत्ति तो सबसे महान् बनने की होती है, लेकिन यह तथ्य अपनी जगह रहता है कि ईश्वर महानतम हैं और उनकी तुलना में जीव अत्यन्त सूक्ष्म है। न तो सूक्ष्मतम मिथ्या है, न महानतम मिथ्या है, लेकिन जब सूक्ष्म यह सोचता है कि वह महान् है, तो यह मिथ्या है।

हम वैदिक साहित्य से जानते हैं कि ब्रह्म या आत्मा *अणोरणीयांसम्*—अणु से भी छोटा, एवं *महतो महीयांसम्*—महानतम से भी अधिक महान् है। जहाँ तक हम कल्पना कर सकते हैं उसके अनुसार जिस आकाश में यह ब्रह्माण्ड है वह महानतम है, लेकिन श्रीकृष्ण ने अपने मुख में लाखों ब्रह्माण्डों के दर्शन कराये हैं। *भगवान्* की महानता उनके अंश रूप जीव की समझ के बाहर है। जीव के रूप में हम अत्यन्त सूक्ष्म हैं और भगवान् अनन्त हैं। नि:संदेह, व्यक्तिगत आत्मा का परिमाण इतना सूक्ष्म है कि यह देखा नहीं जा सकता। यहाँ तक कि अपनी भौतिक इन्द्रियों से भी उसकी अनुभूति कर पाना भी असम्भव है। अतएव कहा जाता है कि आत्मा परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म है (*अणोरणीयांसम्*)।

चूँकि जीव तथा परमेश्वर श्रीकृष्ण दोनों ही आत्मा हैं। अतएव गुणात्मक दृष्टि से वे समान हैं, किन्तु परिमाणात्मक दृष्टि से ईश्वर महान् हैं और जीव सूक्ष्म है। इस तथ्य को वैदिक सूचना के आधार पर तुरन्त स्वीकार किया जा सकता है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*यस्यैकनिश्वसितकाल-मथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथा:*—जब *भगवान्* श्वास

छोड़ते हैं, तो करोड़ों ब्रह्माण्ड उनके शरीर से बाहर आते हैं और जब वे श्वास भीतर लेते हैं, तो वे सब अदृश्य हो जाते हैं। इस तरह केवल उनके श्वास लेने से ही करोड़ों ब्रह्माण्ड बनते हैं तथा लय होते रहते हैं। यदि हकीकत यह है, तो फिर जीव किस तरह किसी वस्तु पर अपना स्वामित्व जता सकते हैं? जीव की स्थिति तब तक कुछ सुरक्षित कही जा सकती है, जब तक वह झूठे तौर पर अपने को भगवान् या स्वामी घोषित नहीं करता। अपने आपको भगवान् होने का दावा करना भी एक फैशन बन चुका है और मूर्ख लोग ऐसे दावों को मानते हैं, लेकिन वैदिक ग्रन्थों से हम समझ सकते हैं कि भगवान् इतने सस्ते नहीं हैं।

जब तक हम ऐसे गर्वित अहंकारपूर्ण दावे नहीं करते, तब तक हम मुक्त हैं। वास्तव में मुक्ति की खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन जब तक मनुष्य यह सोचता है कि, "मैं यह शरीर हूँ," तब तक वह मुक्त नहीं है। मुक्ति का अर्थ है, यह भली-भाँति जानना कि मनुष्य का आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है। अतएव शुकदेव गोस्वामी ने कहा—*प्रायश्चित्तं विमर्शनम्*—"ज्ञान का विकास करो, वही तुम्हें राहत प्रदान करेगा।" हमारा ज्ञान तब पूर्ण होता है, जब हम जान लेते हैं कि हम आध्यात्मिक स्फुल्लिंग के अत्यन्त सूक्ष्म कण हैं और ईश्वर परम, महानतम आध्यात्मिक सत्ता और हमारी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करनेवाले हैं (*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*)। अपने आपको अत्यन्त सूक्ष्म कण, ईश्वर का अंश जानते हुए हम यह समझ सकते हैं कि हमारा कर्तव्य ईश्वर की सेवा करना है। ईश्वर समस्त सृष्टि के, समस्त ब्रह्माण्ड के केन्द्र हैं, वे ही भोक्ता हैं और हम उनके सेवक हैं। जब यह सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है, तो हम मुक्त हो जाते हैं।

मुक्ति का अर्थ है समस्त मिथ्या धारणाओं से छुटकारा। ऐसा नहीं है कि मुक्ति के बाद मनुष्य के दस हाथ हो जाते हैं। *श्रीमद्भागवतम्* में मुक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—*मुक्तिर्हित्वान्यथारूपम्*। मुक्ति का अर्थ है, "छोड़ देना" तथा *अन्यथारूपम्* का अर्थ है, जीवन की मिथ्या धारणाओं को बतानेवाला। इसका अर्थ यह हुआ कि जब मनुष्य समस्त मिथ्या धारणाओं को त्यागकर अपनी मूल वैधानिक स्थिति को प्राप्त होता है, तो वह मुक्त कहलाता है। *श्रीमद्भागवतम्* में यह भी कहा गया है कि ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य तुरन्त मुक्त हो जाता है। यह ज्ञान अत्यन्त सरलता से प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यह सरल है—ईश्वर महान् हैं और मैं अत्यन्त क्षुद्र हूँ; वे समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले परम स्वामी हैं और मैं उनका दास हूँ। भला इसको कौन चुनौती दे सकता है? यह तथ्य है। हमें यह मिथ्या भ्रम है कि हम यह हैं या वह हैं और इससे अंततः हम इस मिथ्या विचार को प्राप्त होते हैं कि हम भगवान् हैं। फिर भी हम यह नहीं सोच पाते कि हम किस तरह के भगवान् हैं। शरीर में थोड़ी-सी गड़बड़ी होते ही हमें चिकित्सक के पास दौड़ जाना पड़ता है। अतएव जो अपने को सर्वोपरि होने का दावा करता है, उसे *माया* के अन्तिम फन्दे में फँसा हुआ समझना चाहिए और जो जीव इस तरह पतित हो चुका है, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह मिथ्या धारणाओं से बँधा रहता है।

उचित ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही कोई वास्तव में मुक्त हो पाता है। मुक्ति की यह अवस्था *ब्रह्मभूत* अवस्था भी कहलाती है। जिसने यह अवस्था प्राप्त कर ली है, उसे श्रीकृष्ण *श्रीमद्भगवद्गीता* (१८.५४) में इस तरह विशेषित करते हैं :

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो इस प्रकार दिव्य रूप से स्थित है, उसे तुरन्त परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। वह न तो कभी शोक करता है, न किसी वस्तु की इच्छा करता

है। वह प्रत्येक जीव पर समान भाव रखता है और इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।"

साक्षात्कार से जो प्रसन्नता होती है वह इस ज्ञान से प्राप्त होती है कि, "मैं इतने समय तक झूठी धारणाओं से भ्रमित होता रहा। मैं कैसा मूर्ख था! मैं सोचता था कि मैं ही भगवान् हूँ, लेकिन अब मैं समझ सकता हूँ कि मैं तो भगवान् का नित्य दास हूँ।" ऐसी अनुभूति प्राप्त करके मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है और *प्रसन्नात्मा* बन जाता है, क्योंकि जीव की यही वैधानिक स्थिति है।

शुद्ध चेतना होने पर मनुष्य शोक नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि वह एक लघु अंश है—परमेश्वर द्वारा सुरक्षित एक आध्यात्मिक स्फुल्लिंग है तो फिर शोक के लिए स्थान कहाँ? एक छोटा-सा बालक अपने को तब तक स्वतंत्र मानता है, जब तक वह जानता है कि उसका पिता वहाँ है। वह सोचता है, "मेरे पिता पास में हैं। अतएव मैं स्वतंत्र हूँ। मुझे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता।" इसी प्रकार जब कोई श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता है, तो उसे पूरा विश्वास रहता है कि वह संकट में नहीं है क्योंकि श्रीकृष्ण उसकी रक्षा करनेवाले हैं। इस तरह जो व्यक्ति श्रीकृष्ण के शरणागत है, वह शोक या कामना से ग्रस्त नहीं होता, जबकि जो ईश्वरभावनाभावित नहीं है, वह केवल लालसा करता है और शोक करता है। वह उसके लिए लालायित रहता है जो उसके पास नहीं है और उसके लिए शोक करता है जो उसके पास था, लेकिन अब नहीं रह गया। ईश्वरभावनाभावित व्यक्ति ऐसे दुःख से प्रभावित नहीं होता। यदि कुछ विनष्ट हो जाता है, तो वह जानता है कि यह ईश्वर की इच्छा है और वह सोचता है, "चूँकि ईश्वर की ऐसी इच्छा थी, अतः यह सब ठीक ही हुआ।" वह किसी वस्तु की कामना नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि उसकी सारी आवश्यकताएँ परम पिता श्रीकृष्ण द्वारा पूरी की जा रही हैं।

ज्योंही मनुष्य ईश्वर से अपने सम्बन्ध को समझ लेता है, उसे विश्वबन्धुत्व की अनुभूति होने लगती है, क्योंकि वह समझता है कि सारे मनुष्य तथा पशु—निःसंदेह, सारे जीव ही—परम पूर्ण के अंश हैं। अतएव समान हैं। इसे देखकर मनुष्य न तो दूसरे जीव से द्वेष करता है, न उसका शोषण करता है, न उसे कष्ट पहुँचाता है। अतएव जो कृष्णभक्त है, उसमें स्वतः सारे गुणों का विकास हो जाता है, क्योंकि वह सही चेतना में स्थिर हुआ है। *हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।* जिसने कृष्णभावनामृत का विकास कर लिया है, उसमें देवताओं के समस्त उत्तम गुण प्रकट होने लगते हैं। निःसंदेह, यह कहा गया है—*वाञ्छा-कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च*—वैष्णव या कृष्णभक्त दूसरों के लिए कृपा का सागर होता है। वह समाज को सबसे बड़ा उपहार प्रदान करता है, क्योंकि समाज को ईश्वर की चेतना की नितान्त आवश्यकता है। एक वैष्णव महामन्त्र का अमूल्य उपहार देता है : *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥* इसी मन्त्र के कीर्तन मात्र से मनुष्य मुक्त अवस्था में रह सकता है।

लेकिन किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि यह केवल समाधि की दशा है जिसमें कोई पद्मासन में कई दिनों तक एक कोने में आसीन रहता है। नहीं, मुक्ति का अर्थ सेवा करना है। कोई यह नहीं कह सकता, "अब मैंने अपना जीवन श्रीकृष्ण को अर्पित कर दिया है। अब मुझे समाधि में बैठे रहने दो।" समर्पण का मानदण्ड *निषेवया* अर्थात् सेवा के द्वारा बनाये रखना है। ज्योंही मनुष्य परमेश्वर की सेवा करता है, त्योंही भगवान् स्वयं उसके अंतःकरण में प्रकट होते हैं। भगवान् की भक्तिमय सेवा का कार्यक्रम सुबह से शाम तक चलता रहता है। निःसंदेह, *श्रीमद्भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को चौबीसों

घंटे उनकी सेवा करनी चाहिए। ऐसा नहीं है कि हम पंद्रह मिनट तक ध्यान करें और बाद में हर तरह के व्यर्थ कार्यों में लग जाएँ। हम जितनी ही अधिक सेवा करते हैं, उतना ही हम श्रीकृष्ण के प्रति अधिक समर्पित होते जाते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपनी सारी प्रतिभाएँ श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त करे। भक्ति की नौ विधियाँ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, मन्दिर में श्रीविग्रह का पूजन (अर्चन), वन्दन, आज्ञापालन, भगवान् के मित्र रूप में सेवा (सख्य) तथा श्रीकृष्ण के लिए सब कुछ त्याग देना—मनुष्य को इन नौ विधियों में से कम से कम किसी एक में व्यस्त रहना चाहिए। जो व्यक्ति श्रीकृष्ण की सेवा में निरन्तर लगा रहता है, वह कभी उदास नहीं होता (*भजतां प्रीतिपूर्वकम्*)। सेवा प्रेमपूर्वक की जानी चाहिए, लेकिन प्रारम्भ में ऐसा करना कठिन प्रतीत हो सकता है जिससे वह उदास हो सकता है, लेकिन वह ज्यों-ज्यों श्रीकृष्ण की सेवा में प्रगति करता है, वैसे ही उसे यह रोचक लगने लगती है। इसका संकेत श्रीकृष्ण द्वारा *श्रीमद्भगवद्गीता* (१८.३७) में हुआ है :

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

"जो प्रारम्भ में विषतुल्य हो, किन्तु अंत में अमृततुल्य हो जाता है और जो मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार के लिए जाग्रत करता है वह सात्त्विक सुख कहलाता है।"

एक बार आध्यात्मिक पद प्राप्त कर लेने पर भौतिक कार्य वास्तव में उबाने लगते हैं। उदाहरण के तौर पर, यदि कोई जीवन भर 'हरे कृष्ण' का जप-कीर्तन करे, तो वह नामों से ऊबेगा नहीं, जबकि भौतिक नाम का बारम्बार उच्चारण करने से वह तुरन्त ऊब उठेगा। जो जितना ही श्रीकृष्ण के नामों का कीर्तन करता है, वह उतना ही उसमें अधिक

अनुरक्त होता जाता है। इस प्रकार *श्रवणम्* तथा *कीर्तनम्* अर्थात् श्रीकृष्ण के विषय में सुनना और कहना, वह सेवा का शुभारम्भ है। अगली विधि *स्मरणम्* अर्थात् सदैव श्रीकृष्ण का स्मरण करने की है। जब मनुष्य श्रवण तथा कीर्तन में पटु हो जाता है, तो वह श्रीकृष्ण का निरन्तर स्मरण करेगा। इस तीसरी अवस्था में वह सबसे बड़ा योगी बन जाता है।

कृष्णभावनामृत में की गई प्रगति कभी विनष्ट नहीं होती। भौतिक जगत् में यदि कोई एक फैक्टरी बनवाना प्रारम्भ करे, किन्तु उसे पूरा न करा पाए, तो वह फैक्टरी समस्त दृष्टिकोणों से व्यर्थ रहती है। यदि निर्माण कार्य बन्द किया जाए और इमारत अधूरी रह जाए, तो जो भी धन उसमें लगाया गया है वह व्यर्थ हो जाता है। किन्तु कृष्णभावनामृत में ऐसा नहीं होता, क्योंकि यदि कोई पूर्णावस्था को नहीं भी प्राप्त कर पाता, तो वह जो कुछ भी किये रहता है, वह उसकी स्थायी निधि बन जाती है और अपने अगले जीवन में वह वहीं से आगे प्रारम्भ कर सकता है। श्रीकृष्ण भी *श्रीमद्भगवद्गीता* (२.४०) में इसकी पुष्टि करते हैं कि जो मनुष्य कृष्णभावनामृत प्रारम्भ करता है, वह कुछ भी नहीं खोता :

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

"इस प्रयास में न तो कोई हानि है, न क्षय और इस मार्ग पर की गई स्वल्प प्रगति भी मनुष्य की सबसे भयानक भय से रक्षा कर सकती है।"

श्रीमद्भगवद्गीता (६.४०) के छठे अध्याय में जब अर्जुन असफल योगी के भाग्य के विषय में पूछता है, तो श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं :

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

"हे पृथापुत्र! शुभकार्यों में संलग्न अध्यात्मवादी कभी भी इस लोक में या वैकुण्ठ में विनाश को प्राप्त नहीं होता। हे मित्र! शुभ कर्म करनेवाला कभी बुराई से परास्त नहीं होता।"

तंत्पश्चात् भगवान् कहते हैं कि असफल योगी ने कृष्णभावनामृत का अभ्यास जहाँ छोड़ा था, वहीं से वह अगले जन्म में पुन: शुरू कर देता है। दूसरे शब्दों में, यदि किसी ने एक जीवन में पचास प्रतिशत अभ्यास पूरा कर लिया है, तो अगले जीवन में वह इक्यावन प्रतिशत से प्रारम्भ करता है, लेकिन हम अपने जीवन में चाहे जितनी भौतिक सम्पत्ति क्यों न एकत्र करें, वह सब मृत्यु के समय विनष्ट हो जाती है क्योंकि हम भौतिक ऐश्वर्य अपने साथ नहीं ले जा सकते।

तो भी मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि यदि वह कृष्णभावनामृत प्राप्त करने के लिए अगले जन्म की प्रतीक्षा करेगा, तो भी कोई आपत्ति नहीं है। हमें इसी जीवन में कृष्णभावनामृत के उद्देश्य को पूरा करने का प्रयास करना चाहिए। श्रीकृष्ण हमें वचन देते हैं कि जो उनका भक्त बनता है, वह निश्चित रूप से उनके पास जाता है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"सदैव मेरा चिन्तन करो। मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझको प्रणाम करो। इसका फल यह होगा कि तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ क्योंकि तुम मेरे परम प्रिय मित्र हो।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* १८.६५)

जब हम श्रीकृष्ण के पास जाने की सोचते हैं, तो हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम किसी शून्य या निर्विशेष उज्ज्वल प्रकाश के समक्ष खड़े हो जाएंगे। श्रीकृष्ण अर्थात् भगवान् एक व्यक्ति हैं, जिस

प्रकार हम सब भी व्यक्ति हैं। भौतिक दृष्टि से, हम समझ सकते हैं कि हमारे पिता एक व्यक्ति है और उनके पिता भी व्यक्ति है और उनके पिता के पिता भी व्यक्ति है और इसी तरह परम पिता तक पहुँचें, तो वे भी व्यक्ति ही होंगे। इसे समझना कठिन नहीं है और यह ध्यान देने की बात है कि भगवान् को न केवल वेदों में अपितु बाइबल, कुरान तथा अन्य शास्त्रों में भी परम पिता कहा गया है। वेदान्त सूत्र भी पुष्टि करता है कि परम सत्य आदि पिता हैं जिनसे प्रत्येक वस्तु जन्मी या उद्भूत हुई हैं। इसकी पुष्टि वेदों से भी होती है :

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
एको बहूनां यो विदधाति कामान्।

"भगवान् नित्यों में परम नित्य और समस्त जीवों में सर्वोपरि व्यक्ति हैं। वे सबका पालन कर रहे हैं।" समस्त जीवों द्वारा प्रदर्शित इच्छाएँ तथा जीवन के लक्षण परम पिता की इच्छाओं तथा जीवन लक्षणों के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। दूसरे शब्दों में, हमारी इच्छाएँ इसीलिए जन्मी क्योंकि उनमें इच्छाएँ हैं। चूँकि हम ईश्वर के अंश रूप हैं। अतएव हममें ईश्वर की सारी प्रवृत्तियाँ अल्प मात्रा में पायी जाती हैं। जो काम प्रदर्शन तथा विषयी जीवन हमें भौतिक जगत् में दिखते हैं, वे आध्यात्मिक जगत् में प्राप्य प्रेम के विकृत प्रतिबिम्ब हैं। यह संसार भौतिक है क्योंकि इसमें ईश्वर को भुला दिया गया है, लेकिन एक बार उनका स्मरण करते ही यह संसार तुरन्त आध्यात्मिक बन जाता है। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक जगत् वह स्थान है, जहाँ श्रीकृष्ण को भुलाया नहीं जाता। आध्यात्मिक जगत् की यही परिभाषा वैदिक साहित्य में भी मिलती है। अतएव हमें अपने जीवन को इस प्रकार योजनाबद्ध करना चाहिए कि हम क्षणभर भी श्रीकृष्ण को भूल न सकें। इस तरह

श्रीकृष्ण की सेवा में लगे रहकर हम सदैव वैकुण्ठ तथा श्रीकृष्ण के धाम वृन्दावन में रहेंगे।

अभी हम अपनी दूषित चेतना के कारण इस संसार को भौतिकतावादी तथा नारकीय स्थान में परिणत करते जा रहे हैं और चूँकि हम अपनी वैधानिक स्थिति से अनभिज्ञ हैं, हमने असंख्य समस्याएँ खड़ी कर ली हैं जिस प्रकार स्वप्न में हम अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर लेते हैं लेकिन वास्तव में समस्याएँ हैं ही। हो सकता है कि मैं स्वप्न में देखूँ कि मैं भीषण तूफान में फँसा हूँ या कोई मेरा पीछा कर रहा है अथवा कोई मेरा धन चुरा रहा है या कि मुझे कोई शेर खाए जा रहा है, लेकिन वास्तव में ये सब मेरे मन की सृष्टियाँ हैं। *असङ्गो ह्ययं पुरुष इति श्रुतेः।* वेद कहते हैं कि पुरुष (आत्मा) का इन समस्त स्वप्नवत् भौतिक कार्यकलापों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव हमें इस स्वप्नावस्था से जगने के लिए इस कृष्णभावनामृत विधि में लग जाना चाहिए।

समस्त सकाम कर्मियों, ज्ञानियों तथा योगियों से भी बढ़कर *भक्त* अर्थात् श्रीकृष्ण के भक्त हैं। एक भक्त पूर्ण रूप से शांत हो सकता है, किन्तु अन्य लोग नहीं हो सकते, क्योंकि जिसमें शुद्ध प्रेम होता है, ऐसे भक्त के अतिरिक्त अन्य सबमें कामना होती है। शुद्ध भक्त कामनारहित होता है क्योंकि वह श्रीकृष्ण की सेवा करने से ही सुखी रहता है। वह यह भी नहीं जानता या परवाह नहीं करता कि श्रीकृष्ण ईश्वर हैं या नहीं; वह तो श्रीकृष्ण से केवल प्रेम करना चाहता है। न ही उसे इसकी परवाह रहती है कि श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् हैं या कि वे सर्वव्यापी हैं। वृन्दावन के गोप तथा गोपियाँ यह नहीं जानते थे कि श्रीकृष्ण ईश्वर हैं या नहीं, वे तो उनसे प्रेम मात्र करते थे। यद्यपि वे वेदान्ती, योगी या कर्मी नहीं थे, फिर भी वे सुखी थे, क्योंकि वे भोले-भाले ग्रामीण बालक तथा बालिकाएँ थे, जो श्रीकृष्ण का दर्शन करना चाहते थे। यह अत्यन्त

उन्नत अवस्था है जिसे कहा गया है—*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्* अर्थात् शुद्धता की अवस्था, जिसमें मनुष्य समस्त भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है।

यद्यपि योगी तथा ज्ञानी ईश्वर को समझने का प्रयास कर रहे हैं, लेकिन वे अपनी मोहग्रस्त स्थिति से अवगत नहीं हैं। *मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्*—वे मूर्ख हैं क्योंकि वे भ्रामक सुख के लिए कठोर श्रम कर रहे हैं। उनके लिए शांति का प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञानी इस भौतिक जगत् के कठिन श्रम से छुटकारा पाने की इच्छा से इस भौतिक जगत् को त्याग देते हैं (*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*)। उनकी स्थिति कर्मियों से कुछ उच्च है क्योंकि कर्मियों ने तो इस भौतिक संसार को ही सब कुछ मान लिया है। वे कहते हैं, "हम यहीं सुखी होंगे।" और उनका धर्म इस भौतिक संसार में ही शांतिपूर्ण वातावरण तैयार करना होता है। ये मूर्ख यह नहीं जानते कि इसके लिए लाखों वर्षों से प्रयास चला आ रहा है, किन्तु ऐसा कभी हुआ नहीं और न कभी होगा। भला इस भौतिक संसार में शांति की स्थापना करना किस तरह सम्भव हो सकता है, जब स्वयं स्रष्टा श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह स्थान दुःखों तथा कष्टों के लिए बना है :

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"भौतिक संसार में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम लोक तक सारे स्थान क्लेश के हैं, जहाँ बारम्बार जन्म तथा मृत्यु होती रहती है।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* ८.१६)

दुःखालयम् अशाश्वतम्—यह संसार न केवल दुःखों से भरा है अपितु क्षणभंगुर भी है। कोई भी व्यक्ति इधर ऐसा समझौता नहीं कर

सकता कि वह तीनों प्रकार के क्लेशों को सहते हुए आगे बढ़ेगा और यहीं निवास करेगा। हमें इसकी भी अनुमति नहीं मिलेगी। इस संसार में वहाँ पर वास करते हुए यह न केवल दण्डित होगा, अपितु अंत में उसे लात मारकर निकाल दिया जाएगा। भले ही कोई कितना ही धन बैंक में एकत्र कर ले या कीमती मकान जुटा ले; स्त्री, बच्चे तथा अन्य अनेक सुख सुविधाएँ जुटा ले और वह यह सोचे, "मैं बहुत ही शांतिपूर्वक रह रहा हूँ" लेकिन उससे किसी भी दिन कहा जा सकता है "कृपया बाहर निकलिये।"

"क्यों?" वह पूछेगा, "यह मेरा घर है और इसे मैंने खरीदा है। मेरे पास धन है, धंधा है और जिम्मेदारियाँ हैं। मैं क्यों बाहर निकलूँ?"

"बस निकल जाओ, बातें मत करो, निकल जाओ।"

उसी दिन मनुष्य को *भगवान्* दिखते हैं। वह सोचता है, "ओह! मैंने *भगवान्* में विश्वास नहीं किया, लेकिन अब तो भगवान् इधर हैं और वे सब कुछ समाप्त कर रहे हैं।" इस प्रकार यह कहा जाता है कि असुर लोग श्रीकृष्ण को मृत्यु के रूप में जानते हैं, क्योंकि यह वह समय है, जब वे उन लोगों से सब कुछ ले लेते हैं।

हम भगवान् को मृत्यु रूप में क्यों देखना चाहते हैं? जब असुर हिरण्यकशिपु ने श्रीकृष्ण को देखा, तो साक्षात् मृत्यु के रूप में देखा, लेकिन भक्त प्रह्लाद ने उन्हें अपने प्रिय भगवान् के साकार रूप में देखा। जो लोग भगवान् को ललकारते हैं, वे उन्हें उनके नृशंस रूप में देखेंगे, किन्तु जो उनकी भक्ति करते हैं वे उन्हें उनके साकार रूप में देखेंगे। प्रत्येक दशा में प्रत्येक व्यक्ति अंततोगत्वा भगवान् को देखेगा।

ईमानदार व्यक्ति सदैव सर्वत्र श्रीकृष्ण का दर्शन कर सकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, "मुझे समझने का प्रयास करो। सर्वत्र मेरा दर्शन करने का प्रयास करो।" इस विधि को सुगम बनाने के लिए भगवान्

कहते हैं, *रसोऽहमप्सु कौन्तेय*—"मैं जल में जल का स्वाद हूँ।" जब हम प्यासे होते हैं और एक गिलास पानी चाहते हैं, तो हम उसे पीते हुए संतुष्ट हो सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि हमारी प्यास बुझाने की शक्ति श्रीकृष्ण हैं। इसी प्रकार ज्योंही सूर्य का या चन्द्र का उदय होता है, त्योंही हम श्रीकृष्ण का दर्शन कर सकते हैं क्योंकि वे कहते हैं, *"प्रभास्मि शशि-सूर्ययोः"*—मैं सूर्य तथा चन्द्रमा हूँ।" और आगे की उन्नत अवस्था में हम श्रीकृष्ण का दर्शन प्रत्येक वस्तु के भीतर जीवित शक्ति के रूप में कर सकते हैं, जैसा कि उन्होंने *श्रीमद्भगवद्गीता* (७.९) में संकेत किया है :

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥

"मैं पृथ्वी की आदि गंध हूँ और मैं अग्नि का तेज हूँ। मैं समस्त जीवितों का जीवन हूँ और सभी तपस्वियों का तप हूँ।"

यदि हम एक बार समझ लें कि सारी वस्तुएँ अपने अस्तित्व के लिए श्रीकृष्ण पर आश्रित हैं, तो उनके द्वारा हमसे कभी भी ओझल होने की सम्भावना नहीं रह जाती। *श्रीमद्भगवद्गीता* (७.६-७) में भगवान् इंगित करते हैं कि सम्पूर्ण वस्तुएँ आदि, अंत तथा मध्य अवस्थाओं में उनमें निवास करती हैं :

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"इस संसार में जो भी भौतिक तथा आध्यात्मिक है, यह निश्चित जान लो कि मैं ही उसका उद्भव तथा प्रलय हूँ। हे धनञ्जय (अर्जुन)! मुझसे

श्रेष्ठ कोई सत्य नहीं। प्रत्येक वस्तु मुझ पर आश्रित है, जिस तरह मोती धागे पर आश्रित रहते हैं।"

श्रीकृष्ण को सरलता से देखा जा सकता है, किन्तु वे उन्हें ही दिखते हैं जो उनके भक्त हैं। जो द्वेषी, मूर्ख या बुद्धिहीन हैं, उनके लिए वे अपने आपको माया के पर्दे से छिपा लेते हैं :

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

"मैं कभी मूर्ख तथा बुद्धिहीन के सामने प्रकट नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी नित्य सृजनशील शक्ति (माया) से प्रच्छन्न रहता हूँ, इस प्रकार मोहित जगत् मुझ अजन्मे तथा अविनाशी को नहीं जानता।" (*श्रीमद्भगवद्गीता* ७.२५)

यह नित्य सृजनशील शक्ति या योगमाया जो श्रीकृष्ण को बुद्धिहीन से छिपा लेती है, प्रेम से विलीन हो जाती है। यह ब्रह्म-संहिता का निर्णय है :

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

"जिसने श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न कर लिया है, वह चौबीसों घंटे अहर्निश अपने हृदय के भीतर श्रीकृष्ण का दर्शन कर सकता है।"

जो इस प्रकार श्रीकृष्ण का दर्शन करते हैं, वे चिन्तित नहीं रहते क्योंकि वे जानते हैं कि मृत्यु के समय वे कहाँ जाएंगे। जिसने कृष्णभावनामृत का उपहार ग्रहण किया है, वह जानता है कि उसे इस भौतिक संसार में दूसरा शरीर ग्रहण करने के लिए लौटना नहीं पड़ेगा, अपितु वह श्रीकृष्ण के पास जाएगा। श्रीकृष्ण के पास तब तक जाना सम्भव नहीं, जब तक वह श्रीकृष्ण के समान ही सच्चिदानन्द विग्रह शरीर न प्राप्त करे। जब तक कोई अग्निवत् न बन जाए, तब तक यह सम्भव नहीं है कि

वह अग्नि में जलकर भस्म हुए बिना उसमें प्रवेश करे। इसी प्रकार बिना आध्यात्मिक शरीर के कोई आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश नहीं कर सकता। आध्यात्मिक शरीर होने पर गोपियों तथा गोपों के समान श्रीकृष्ण के साथ रास-नृत्य में नृत्य किया जा सकता है। यह सामान्य नृत्य नहीं होता, अपितु पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के साथ शाश्वतता का नृत्य है। जो श्रीकृष्ण के प्रेम से शुद्ध हो चुके हैं, वे ही इसमें भाग ले सकते हैं। अतएव इस कृष्णभावनामृत की विधि को सस्ती नहीं मान बैठना चाहिए, बल्कि यह स्वयं भगवान् के द्वारा पीड़ित मानवता के लिए प्रदान किया गया अनुपम उपहार है। इस विधि में लगने मात्र से ही हम जीवन की सारी चिन्ताओं तथा भय, विशेष रूप से मृत्यु के भय से मुक्त हो जाते हैं।

लेखक-परिचय

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती श्री श्रीजगन्नाथ पुरी धाम में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के यहाँ जन्मे थे, जो कि भगवान् श्रीचैतन्य से चली आ रही परम्परा के महत्त्वपूर्ण कृष्णभावनाभावित आचार्य थे। सरकारी मैजिस्ट्रेट के पद पर रहकर भी श्रील भक्तिविनोद भारत में भगवान् श्रीचैतन्य की शिक्षाओं की स्थापना करने का अथक प्रयास करते रहे, जहाँ दुर्भाग्यवश लोग भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के सिद्धान्तों से विमुख हो चले थे। उन्होंने एक विश्वव्यापी कृष्णभावनामृत संघ का स्वप्न देखा एवं भगवान् से इस स्वप्न की पूर्ति हेतु पुत्ररत्न प्रदान करने की प्रार्थना की।

६ फरवरी, १८७४ को श्रीजगन्नाथ पुरी के पावन तीर्थ-नगर में, जहाँ श्रील भक्तिविनोद ठाकुर श्रीजगन्नाथ मन्दिर के अध्यक्ष का कार्यभार सँभालते थे, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती इस जगत् में प्रकट हुए। उनका नाम बिमल प्रसाद रखा गया। सात वर्ष की अल्पायु में ही बिमल प्रसाद ने *श्रीमद्भगवद्गीता* के सात सौ से अधिक श्लोक कंठस्थ कर लिया, एवं वे उन पर सारगर्भित टिप्पणियाँ करने लगे। कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों एवं कृष्णभावना दर्शन के लेखों के लेखक श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अपने पुत्र को छपाई तथा प्रूफ शोधन में निपुण कर दिया।

२५ वर्ष की आयु होने तक बिमल प्रसाद ने संस्कृत, गणित एवं ज्योतिष के पण्डित के रूप में प्रभावी यश अर्जित कर लिया। उनके ज्योतिष ग्रन्थ, 'सूर्य सिद्धान्त' के कारण उनको अत्यधिक विद्वता हेतु सिद्धान्त सरस्वती की उपाधि मिली। १९०५ में, अपने पिता के परामर्श का अनुसरण करते हुए, सिद्धान्त सरस्वती ने गौरकिशोर दास बाबाजी

से दीक्षा ली। यद्यपि गौरकिशोर दास बाबाजी सन्त एवं श्रीकृष्ण के उत्तम भक्त के रूप में प्रसिद्ध थे, तथापि वे अनपढ़ थे। अपने अत्यंत शिक्षित शिष्य की विनम्रता एवं समर्पण से संतुष्ट होकर श्रील गौरकिशोर ने उनको अपना पूर्ण आशीर्वाद प्रदान किया और उनसे निवेदन किया, "अन्य सभी कार्य छोड़कर परम सत्य का प्रचार करो।" तत्पश्चात् सिद्धान्त सरस्वती ने अपने पिता के प्रचार कार्य में स्वयं को एक योग्य सहयोगी प्रमाणित किया।

१९१४ में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के देहांत के उपरांत, सिद्धान्त सरस्वती अपने पिता की पत्रिका, 'सज्जन-तोषणी' के संपादक बन गए एवं उन्होंने कृष्णभावनामृत साहित्य हेतु 'भगवत् प्रेस' की स्थापना की। फिर १९१८ में सिद्धान्त सरस्वती ने संन्यास स्वीकार किया एवं उनका नाम श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज पड़ा। पूरे भारत में कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के उद्देश्य से उन्होंने देशभर में गौड़ीय मठ की ६४ शाखाओं का गठन किया। इसका प्रधान कार्यालय चैतन्य गौड़ीय मठ भगवान् श्रीचैतन्य के जन्मस्थान श्रीधाम मायापुर में अवस्थित था। बाद में उन्होंने अपने शिष्यों को प्रचार कार्य हेतु यूरोप भी भेजा।

श्रील भक्तिसिद्धान्त ने कृष्णभावनामृत की परम्परा को बीसवीं शताब्दी की तकनीकी एवं सामाजिक परिस्थिति के अनुसार ढाला। वे छापेखाने को विश्व में कृष्णभावनामृत प्रचार का सबसे प्रभावी साधन मानते थे। उन्होंने स्वयं कई महत्त्वपूर्ण भाष्य एवं दार्शनिक निबंध लिखे। वे अपने संन्यासी शिष्यों को विदेशी वस्त्र पहनने एवं पैदल के बदले आधुनिक वाहनों में यात्रा करने की छूट देनेवाले प्रथम गुरु थे।

१९२२ में, एक मेधावी युवा छात्र, अभय चरण डे, श्रील भक्तिसिद्धान्त से कलकत्ता के गौड़ीय मठ में मिला। श्रील भक्तिसिद्धान्त ने तुरन्त उस नवयुवक को परामर्श दिया कि वह विदेश में कृष्णभावनामृत संदेश का

प्रचार अंग्रेजी भाषा में करे। अभय श्रील भक्तिसिद्धान्त की अभिलाषा को तुरन्त कार्यान्वित न कर पाने पर भी गौड़ीय मठ के सक्रिय सहायक बन गए। १९३३ में अभय श्रील भक्तिसिद्धान्त के औपचारिक शिष्य बने, जिन्होंने उनको 'अभय चरणारविन्द' नाम दिया।

१९३० के दशक में, श्रील भक्तिसिद्धान्त ने अपने प्रचार कार्य का बहुत विस्तार किया। वे भारत के आध्यात्मिक जीवन में कृष्णभावनामृत को एक अग्रशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल रहे। अपना कार्य जारी रखने की उत्कंठा में उन्होंने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि वे उनकी अनुपस्थिति में 'गवर्निंग बॉडी कमीशन' (प्रशासनिक आयोग) का गठन करें। १ जनवरी, १९३७ को श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती इस जगत् से विदा हो गए। दुर्भाग्य से उनके अग्रणी शिष्यों ने उनके 'गवर्निंग बॉडी कमीशन' बनाने के निर्देश का पालन नहीं किया, जिसके फलस्वरूप गौड़ीय मठ, जो एक संयुक्त प्रचार संस्था के रूप में था, धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया।

किन्तु अभय चरणारविन्द श्रील भक्तिसिद्धान्त के विश्वव्यापी कृष्णभावनामृत प्रचार के स्वप्न के प्रति एवं अपने लिए व्यक्तिगत निर्देश के प्रति सचेत रहे। उन्होंने संन्यास लेकर भक्तिवेदांत स्वामी महाराज की उपाधि प्राप्त की, एवं अंग्रेजी भाषा में कृष्णभावनामृत के प्रचार हेतु वे १९६५ में अमेरिका रवाना हो गए। वहाँ उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ (इस्कॉन) की स्थापना की एवं 'गवर्निंग बॉडी कमीशन' स्थापित किया जो १९७७ में उनके तिरोभाव के उपरांत भी आज तक संस्था का निर्देशन कर रहा है। इस प्रकार कृष्णकृपामूर्ति अभय चरणारविन्द भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद एवं उनके अनुयायियों के गम्भीर प्रयासों से श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती का कार्य आज भी विश्व भर में चालू है।